* ॐ *

* वेद-समालोचना *

लेखक :—

पं० राजेन्द्रकुमार जैन, न्यायतीर्थ

अम्बाला छावनी

प्रकाशक :—

विशम्भर दास जैन,

मंत्री—प्रकाशनविभाग

"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला"

अम्बाला छावनी

प्रथमावृत्ति १००० | सन् १९३० ई० | मूल्य छः आना

प्रकाशक :—
विशंभरदास जैन
अम्बाला छावनी

मुद्रक :—
शान्तिचन्द्र जैन
बिजनौर

✱ भूमिका ✱
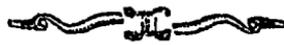
जबकि वेद शब्द का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान किया जाता है और उसको ईश्वरकृत माना जाता है तब इसमें किसी भी ईश्वरास्तित्ववादी को कोई विरोध नही रहता; क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाले वे चाहे आर्यसमाजी हों, सनातनी हों या जैनी और भले ही उसके अन्यगुणों के सम्बन्ध में मतभेद रखते हों, किन्तु उसको सर्वज्ञ या पूर्णज्ञानी तो सब ही मानते हैं और जब वे उसको पूर्णज्ञानी मानते हैं तब वे उसके ज्ञान का—भले ही उसको वेद शब्द से कह दीजिये—किस प्रकार निराकरण कर सकते हैं। जब वेद शब्दके वाच्य से ऋग्, यजु, साम और अथर्व नामधारी शास्त्रों को लिया जाता है और इन को ईश्वरकृत बतलाया जाता है या इन शास्त्रों को केवल ईश्वरीय ज्ञान के ज्ञेयों का वाचक बतलाया जाता है तब मतभेद उत्पन्न होजाता है, क्योंकि उपर्युक्त चारों शास्त्रों का ईश्वरकृत होना या केवल ईश्वरीय ज्ञानके ज्ञेयोंका वाचक होना अभीतक साध्यकोटि में है। इस पुस्तक में इस बात को बतलाया गया है कि उपर्युक्त चारों शास्त्र न ईश्वरकृत ही हैं और न केवल ईश्वरीय ज्ञान के ज्ञेयों के वाचक ही। ईश्वरास्तित्वको न मानने वाले वेदानुयायी वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं जिसपर भी इस पुस्तक में विचार किया गया है। अतएव इस पुस्तक का नाम वेदसमालोचना रक्खा है।

यह पुस्तक तीन भागों में बांट दी गई है। पहिले भागमें वेद के अपौरुषेयत्व और आर्यसमाजियों के मतानुसार उसके ईश्वरकर्तृत्व पर विचार किया गया है। दूसरे में सनातनियों के अनुसार उसके ईश्वरकर्तृत्व पर और तीसरे में वास्तव में वेद क्या है? इस पर।

गत वर्ष जब मैं शास्त्रार्थ कर वल्लभगढ से वापिस आया था तब विदुषी बहिन चम्पावती देवी सुपुत्री ला० शिब्बामल जी जैन अम्बाला ने इस पुस्तक के लिखने की मुझसे प्रेरणा की थी। मैंने उक्त बहिन से इसका वायदा किया था और तदनुसार पुस्तक लिखना भी प्रारम्भ कर दी थी, किन्तु दुःख है कि पुस्तक की समाप्ति के कई माह पूर्व वह पवित्रात्मा स्वर्गीय रत्न बनगई।

यदि आज वह प्यारी बहिन जीवित होती तो उस को अपनी प्रेरणाके फलस्वरूप इस कार्यको देखकर अवश्य हार्दिक प्रसन्नता होती, किन्तु भवितव्य में किसका चारा है। अस्तु स्वर्गीया बहिन चम्पावती देवी जिस प्रकार विदुषी थी उस ही प्रकार चारित्रवती भी। इस ही बातको ध्यान में रखकर समाज ने यह पुस्तकमाला उसके स्मरणार्थ चालू की है—

जिस आत्माके स्मरणार्थ यह पुस्तकमाला है यह पुस्तक भी उसही की प्रेरणा से तय्यार हुई है; अतः यह पुस्तक इस पुस्तकमाला को ही समर्पण करता हूँ। आइन्दा भी चम्पावती जैन पुस्तकमाला कमेटी को इस पुस्तक के पूर्ण अधिकार होंगे।

अम्बाला छावनी
२५-१०-३०

विनीत—
राजेन्द्रकुमार जैन

वेद समालोचना

वेद को प्रमाण मानने वालों में कुछ का तो कहना है कि वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् इन को किसी ने भी नहीं बनाया, किन्तु ये अनादि धारा प्रवाह से चले आ रहे हैं, और कुछ का कहना है कि वेद ईश्वर प्रणीत हैं। उपर्युक्त मतभेद का कारण ईश्वर के अस्तित्व को मानना और न मानना ही है। जिन लोगों ने ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जैसे कपिल और उत्तर मीमांसा वाले, उन्होंने वेद को अपौरुषेय अनादि स्वीकार किया और जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को माना, जैसे वैशेषिक और नैयायिक आदि, उन्होंने वेदों को ईश्वर-कृत माना। उपर्युक्त दोनों प्रकार के दार्शनिक वेद का लक्षण "मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः" अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद है ऐसा मानते हैं। मन्त्र से तात्पर्य्य उन से है, जिन के कि समुदाय स्वरूप ऋग्, यजु, साम और अथर्व हैं और ब्राह्मण से उन वेद भाष्यों से है जो कि शतपथादि के नाम से प्रचलित हैं। दूसरे प्रकार के दार्शनिकों में कुछ का, जिन को हम आर्य्यसमाजी नाम से कहते हैं, कहना है कि वेद का लक्षण मन्त्रात्मक ही है। उसमें ब्राह्मण शब्द को जोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि वेद ईश्वर कृत हैं—ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं; वे तो ऋषियों द्वारा किये गये वेदों के भाष्य हैं। यदि ब्राह्मण शब्द

को भी वेद के लक्षण में जोड दिया जावेगा तो इन को भी ईश्वरकृत मानना पड़ेगा, किंतु ऐसा हो नहीं सकता। अतः वेद का लक्षण मन्त्रात्मक ही है। उपर्युक्त बातों को यदि थोड़े में ही कहना चाहें तो यों भी कह सकते हैं कि वेद को कुछ लोग तो अपौरुषेय मानते हैं और कुछ ईश्वरकृत। उपर्युक्त पहिले प्रकार के मनुष्य और दूसरे में से कुछ, जोकि वर्त्तमान में सनातन धर्मी के नाम से प्रचलित है, वेद के लक्षण को मन्त्र ब्राह्मणात्मक मानते हैं और कुछ यानी आर्य्यसमाजी वेद के लक्षण को मन्त्रात्मक ही मानते हैं। अब विचारणीय यह है कि क्या वेद अनादि है अथवा ईश्वरकृत है ?

जो लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं उनका कहना है कि वेद शब्दात्मक हैं और शब्द वर्णात्मक, तथा वर्ण नित्य है। अतः उनका समुदाय स्वरूप शब्द और वेद भी नित्य है और जब ये नित्य हैं तब इन का अनादि और अपौरुषेय होना तो स्वयं सिद्ध है। यह बात कि वर्ण नित्य है, असिद्ध नहीं। क्योंकि उन की नित्यता दूसरे काल में प्रत्यभिज्ञान होने से सिद्ध है। यदि वही वर्ण दूसरे काल में न हो तो उसका ज्ञान भी दूसरे काल में नहीं होना चाहिये था, किन्तु ज्ञान तो होता है। अतः स्पष्ट है कि वही वर्ण भी दूसरे काल में विद्यमान है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि शब्दों को नित्य न माना जावेगा तो उन से अर्थज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द से अर्थज्ञान होने में कारण सङ्केत ग्रहण होना है—एक

शब्द को सुनकर उससे कहने वाले का मतलब समझ लेता है, किन्तु दूसरा नहीं। इस का कारण यही है कि उसने तो सङ्केत ग्रहण कर लिया है कि इस शब्द का यह अर्थ है, किन्तु दूसरे ने नहीं किया। अतः उसको तो ज्ञान हो जाता है, किन्तु दूसरे को नहीं होता और सङ्केतज्ञान बिना नित्य के हो नहीं सकता। अतः स्पष्ट है कि शब्द नित्य है।

तीसरी बात यह है कि जिस प्रकार वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष होता है, उस ही प्रकार वेद का पढ़ाना भी वेद के पढ़ने पूर्वक है और जब वेदका पढ़ाना वेद के पढ़ने पूर्वक है तब तो इस के पठन पाठन की अनादि सन्तति अवश्य माननी पड़ेगी और वह वेद के अनादि बिना नहीं होसकती। अतः इससे भी सिद्ध है कि वेद अनादि हैं।

चौथी बात यह है कि न तो वेदके कर्त्ताका ही स्मरण होता है और न कहीं इसकी सन्तान ही समाप्त होती है और जिन के कर्त्ता का स्मरण नहीं होता तथा सन्तान नहीं टूटती वे अनादि हैं, जैसे आकाश आदि। अतः स्पष्ट है कि वेद भी अनादि है। अब विचारणीय यह है कि क्या वर्ण नित्य हैं? क्या सङ्केत बिना नित्यके नहीं हो सकता? क्या बिना पढ़े वेद को नहीं पढ़ाया जासकता? क्या वेद के कर्त्ताका स्मरण नहीं होता तथा क्या उस की सन्तान नहीं टूटी?

पहिली बात के सिद्ध करने के लिये वादी ने "दूसरे कालमें प्रत्यभिज्ञान होने से" हेतु दिया है, किन्तु वह तभी सत्

हेतु हो सकता है जब कि बीच में उसकी सत्ता सिद्ध हो जाय। हम प्रत्यभिज्ञान से जानते है कि यह वही मेरा मकान है जिस को कल मैने देखा था—यहां तो प्रत्यभिज्ञान हो सकता है, क्योंकि मकान का, बीचमें आज और कल के अन्तराल में, सिद्ध करने वाला प्रमाण है, किन्तु यहां ऐसा है नहीं अर्थात् बीच में वर्णों की सत्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं। यदि कहेंगे कि प्रत्यभिज्ञान से ही अन्तराल में वर्णों की सत्ता सिद्ध करते है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आजावेगा, क्योंकि जब अन्तराल में वर्णों की सत्ता सिद्ध हो तब तो प्रत्यभिज्ञान हो और जब प्रत्यभिज्ञान हो तब अन्तराल में सत्ता सिद्ध हो।

दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्य से भी हो जाता है। जैसे एक मुलाज़िम से एक शीशा टूट गया और जब उसने यह महसूस किया कि यदि मालिक को मालूम होजावेगा तो वह नाराज़ होवेगा; अतः इसमें बाज़ार से दूसरा शीशा लाकर लगा देना चाहिये और उसने ऐसा ही किया, तथापि मालिक ने सुनलिया कि नौकर से लालटेन का शीशा टूट गया है, किन्तु जब उसने लालटेन को देखा तो उसको उसमें शीशा मिला। तब उसने कहा कि कहने वाला झूठा है— इस में तो वही शीशा है जो कल देखा था। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि शीशा दूसरा था, किन्तु उस में विभिन्नता नहीं थी· अतः मालिक को उसमें एकता का ज्ञान होगया। इस ही को एकत्वाश्रय प्रत्यभिज्ञान कहते है अर्थात् जहां एकता

तो नहीं है, किन्तु एकता का ज्ञान हो जाता है; जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में। यही बात वर्णों में भी हो सकती है। अतः जब तक बीच में वर्णों की सत्ता सिद्ध न हो जावे तब तक यह समुचित नहीं ठहराया जा सकता कि ये वही वर्ण हैं।

दूसरे काल में प्रत्यभिज्ञान होने से यह हेतु कालात्यया-पदिष्ट भी है, क्योंकि इसका पक्ष "वर्ण नित्य हैं" प्रत्यक्षादिक प्रमाण से वाधित है। प्रत्यक्ष प्रमाण से तो वर्णों का उत्पन्न होना और नाश होना स्पष्ट ही है। इस के अतिरिक्त यदि वर्ण अनित्य न होते तो हमको शब्दार्थज्ञान भी न होना चाहिये क्योंकि शब्दार्थज्ञान शब्द से होता है और वह वर्ण समुदाय स्वरूप है। यदि वर्णों का नाश नहीं माना जावेगा तो समस्त वर्णों का सुनना एक साथ होना चाहिये और ऐसा होने से ख़ास २ शब्द न बन सकेंगे। क्योंकि ख़ास २ शब्द तो ख़ास २ वर्णों के समुदाय स्वरूप ही हैं नकि समस्त वर्णों के और जब ख़ास २ शब्द ही नही बनेंगे तो उनके अर्थों का ज्ञान ही किस प्रकार होगा? ख़ास २ शब्द भी बनते हैं और उन के अर्थों का ज्ञान भी होता है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण नित्य नहीं, किन्तु अनित्य हैं। अतः नित्य पक्ष में "शब्दार्थ ज्ञान के न होने से" इस अनुमान से भी "वर्ण नित्य हैं" यह पक्ष बाधित है और जब पक्ष ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से बाधित है तो हेतु भी कालात्ययापदिष्ट है।

यदि यह कहा जाय कि वर्ण तो सर्वदा रहते हैं, किन्तु

उन की अभिव्यक्ति (ज़ाहिरापन) हमेशा नहीं होती, क्योंकि उन की अभिव्यञ्जक वायु सदैव नहीं रहती। जब जब उसकी अभिव्यञ्जक वायु के कारण मिलते हैं तब २ वह होती है और जब २ नहीं तब २ नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह तो तब माना जासकता था जब कि उनकी सत्ता हमेशा साबित होजाती, क्योंकि जो वस्तु मौजूद है उसही की तो अभिव्यक्ति होती है।

इसके सम्बन्ध मे दूसरी बात यह भी है कि यदि वर्णों की अभिव्यक्ति होती है तो वर्णों का सुनना क्रमसे नहीं हो सकता। क्योंकि समान इन्द्रिय ग्राह्य, समान देश में मौजूद, और समान धर्म वाले पदार्थों की अभिव्यक्ति के लिये भिन्न २ अभिव्यजक की आवश्यकता नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ एक ही इन्द्रिय से ग्रहण कर लिये जाते हैं और जो एक ही जगह रक्खे हैं तथा जिन में धर्मभेद (स्थूल सूक्ष्म पन) भी नहीं है, उनके प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न चीजों की आवश्यकता नहीं होती; जैसे एक कमरे में रक्खे हुए एक आकार के दश पदार्थों को पृथक २ दीपक की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् वे एक ही दीपक से प्रकट किये जा सक्ते हैं। यदि उनमें देश भेद होता—यानी एक तो इस कमरे में रक्खा हुआ होता और दूसरा दूसरे में—या क्षेत्र भेद न होकर भी धर्म भेद होता—यानी एक तो बडा होता दूसरा छोटा—तब उनके लिये भिन्न २ सामग्री की आवश्यकता पड

सकती थी। जहां पर ऐसा नहीं है वहां पर भिन्न २ सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। यही अवस्था वर्णों में है अर्थात् वे एक ही कर्ण इन्द्रिय से ग्राह्य हैं तथा एक ही स्थान पर मौजूद हैं, और समान धर्म वाले (एक से) हैं, फिर उनकी अभिव्यक्ति के लिये भिन्न २ सामग्री की आवश्यकता नहीं। उन सब का आविर्भाव तो एक ही के आविर्भावक से हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः स्पष्ट है कि वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु उत्पत्ति ही होती है।

तीसरी बात यह कि यदि वर्णों की अभिव्यक्ति होती तो वर्णों में ह्रस्व दीर्घपन नहीं होना चाहिए था क्योंकि वर्ण तो नित्य हैं—वे तो सर्वदा एक से रहते हैं। अभिव्यंजक वायु ही अनित्य है। उनके अन्दर ही विभिन्नता होसकती है न कि वर्णों में। अभिव्यंजक विभिन्नता से अभिव्यंज्य में विभिन्नता नहीं आती। जिस वस्तु को एक दीपक प्रकाशित करता है, यदि उस ही को पांचसौ दीपक प्रकाशित करने लगें तो क्या वस्तु में छोटा बड़ापन थोड़े ही होसकता है अर्थात् वस्तु तो उतनी ही रहेगी जितनी कि एक दीपकसे प्रकाशित होते समय थी. किन्तु प्रकाश ही अधिक हो जावेगा। ठीक यही अवस्था वर्णों में भी होनी चाहिये—यानी वर्णों को तो सर्वदा एकसाही रहना चाहिये। यदि विभिन्नता हो तो वायु में हो सकती है, किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि ऐसा ही होता तो कर्ण-इन्द्रिय से ह्रस्व दीर्घपन प्रकट न होता, किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय से मालूम होता

चाहिये था—क्योंकि वायु को तो स्पर्शन इन्द्रिय ही ग्रहण करती है न कि कर्ण-इन्द्रिय, किन्तु होता है कर्ण-इन्द्रिय से। अतः स्पष्ट है कि यह ह्रस्व दीर्घपने वर्णगत है और जब वर्णगत है तो यह भी स्पष्ट है कि वर्णों की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु नाश और उत्पाद ही होता है, क्योंकि वर्णों में ह्रस्व और दीर्घपन नहीं आ सकते।

उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट है कि वर्णों की अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु उत्पत्ति ही होती है और जब उत्पत्ति ही होती है तो वे अनित्य हैं और जब वर्ण अनित्य है तब तदात्मक शब्द भी अनित्य है और जब शब्द अनित्य है तब उनका समुदाय-स्वरूप वेद कैसे नित्य हो सकता है। अतः इस ही के आधार पर वेद को नित्य मानकर अनादि मानना ठीक नहीं। यदि थोड़ी देर के लिये अभ्युपगम सिद्धान्त से यह मान भी लिया जाय कि वर्ण नित्य हैं तब भी तदात्मक शब्द और तदात्मक वेद नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि अवयवों के नित्य होने से अवयवी को नित्य थोड़े ही माना जा सकता है। यदि ऐसा ही होता तो संसार में कोई भी भौतिक घटादि अनित्य न होता, क्योंकि उनके अवयव-परमाणु भी तो नित्य हैं। जिस प्रकार कि परमाणुओं का नित्य होना भी अवयवी के नित्यत्व का नियामक नहीं, उस ही प्रकार वर्णों का नित्यत्व भी शब्दों के नित्यत्व का। अतः इस दृष्टि से भी—वर्णों को अभ्युपगम सिद्धान्त से नित्य मानकर भी—शब्द और वेदों को नित्य प्रमा-

णित नहीं किया जा सकता। संकेत ज्ञान के लिये भी नित्यता की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो समानता से भी हो जाता है। यदि ऐसा ही होता कि संकेत ज्ञान के लिये नित्यता की ही आवश्यकता होती तो दूसरी धूम को देख कर आग, दूसरी छतरी देख कर छतरी वालेका और दूसरे दण्ड को देख कर दण्डी का ज्ञान न होने चाहिये थे, किन्तु ऐसा होता नहीं। ज्ञान तो उससे सदृश वस्तु में भी हो जाता है; जैसे एक आदमी ने एक के पास छतरी देख कर यह संकेत ग्रहण किया था कि यह छतरीवाला है, किन्तु उसकी वह छतरी खो गई और वह दूसरी छतरी ले आया। तब भी वह उसको छतरी वाला ही कहता है तथा अन्य मनुष्यों को भी जिनके पास वह छतरी देखता है छतरी वाला कहता है। इस ही प्रकार जिस धूम से आग की व्याप्ति ग्रहण की थी वह अब तो नहीं है, किन्तु उसके समान ही दूसरी धूम है, तथापि उसको देख कर धूम ज्ञान तथा उससे फिर आग का अनुमानज्ञान हो जाता है। यही अवस्था दण्डीज्ञान की भी है। अतः स्पष्ट है कि संकेत-ज्ञान के लिये उस ही वस्तु की आवश्यकता नहीं, वह समानता से भी हो जाता है और जब ऐसी बात है तब इस ही के आधार पर शब्दों को नित्य कहना व्यर्थ है।

इसके सम्बन्ध में तीसरी बात यह कही गई है कि वेदों को बिना पढ़े नहीं पढ़ाया जा सकता; अतः वेद अनादि हैं। इसके सम्बन्ध में यही विचारना है कि "बग़ैर पढ़े नहीं पढ़ाया

जा सकता" यहां वग़ैर पढ़े से तात्पर्य्य बिल्कुल न पढ़ने से है या उस भाषा के न पढने से ? अथवा वेदों के न पढ़ने से है ? यदि "बग़ैर पढ़े" से तात्पर्य्य बिल्कुल न पढने से है तब तो हम को भी इष्ट है । हम यह कब कहते हैं कि बिल्कुल विना पढ़े वेदों को पढा या पढ़ाया जा सकता है । हमारा मत तो यह है कि बिल्कुल बिना पढ़े तो कुछ भी नहीं पढ़ाया जा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एतावता वह अनादि है। यदि ऐसा होगा तो संसार के समस्त भाषाओं के समस्त शास्त्रों को अनादि मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा वादि को इष्ट नहीं; अत इस ही के आधार पर वेद को अनादि कहना व्यर्थ है ।

यदि बिना पढ़े से तात्पर्य्य उस भाषा के न पढ़ने से है, तब भी हमको इष्ट है—हम यह स्वीकार करते हैं कि जो जिस भाषा का शास्त्र है उस भाषा के बिना जाने उस शास्त्र का ज्ञान नही हो सकता, किन्तु यह अर्थ कदापि नहीं कि एतावता वह अनादि है । यदि ऐसा हो तो संसार के समस्त भाषाओं के शास्त्रों को अनादि मानना पड़ेगा, क्योंकि उन २ भाषाओं के ज्ञान के बिना उन २ शास्त्रों का ज्ञान नही होता, किन्तु ऐसा वादि को इष्ट नहीं है; अतः "वग़ैर पढ़े" का उपर्युक्त अर्थ मान कर भी वेद को अनादि नहीं माना जा सकता ।

यदि "बिना पढ़े से" तात्पर्य्य वेदों को न पढ़ने से है, तब तो ठीक नहीं । क्योंकि वेदों को बिना पढ़े भी उनको पढ़ा

और पढ़ाया जा सकता है। जिस प्रकार संस्कृत भाषा के उत्तम ज्ञान से उस भाषा के अन्य अनधीत शास्त्रों का भी ज्ञान होजाता है, उस ही प्रकार वेदों का भी। देखने में आता है कि जो एक भाषा का उद्भट विद्वान् है वह उस भाषा के अन्य अनधीत शास्त्रों का भी ज्ञान कर लेता है। अतः वेदों को बिना पढ़े पढ़ा या पढ़ाया नहीं जा सकता, यह मिथ्या है। हां यह बात अवश्य है कि उसको उस भाषा का ऊँचे दर्जे का ज्ञान होना चाहिये। एतदर्थ ही हमने विद्वान् के साथ उद्भट विशेषण लगा दिया है। इसके सम्बन्ध में चौथी बात यह कही थी कि वेद अनादि हैं, क्योंकि न तो उनके कर्ता का स्मरण होता है और न इनकी सन्तान ही टूटी है। यहां कर्ता का अस्मरण वादि की दृष्टि से है या प्रतिवादि की अथवा उभय की से ?

यदि वादि की दृष्टि से कर्ता का अस्मरण इष्ट है तो कर्ताके न मिलने से या उसके अभावसे। यदि कर्ताके न मिलने से है तब तो अन्य शास्त्रों में भी कर्त्ता का अस्मरण होजावेगा। क्योंकि उनके कर्त्ता का भी पता नहीं चला; जैसे पिटकत्रय के कर्त्ता का। वादि ने वहां ऐसा माना नहीं है। अतः यदि वहां कर्त्ता का अस्मरण नहीं हो सकता तो यहां पर भी इस ही के आधार पर कर्त्ता का अस्मरण नहीं माना जा सकता। यदि कर्त्ता के अभाव से कर्त्ता का अस्मरण इष्ट है तब भी ठीक नहीं। क्योंकि यह बात तो अभी तक साध्य कोटि में पड़ी है कि वेदों का कर्ता नहीं। यदि ऐसा मत है कि वेदों में कर्ता का स्मरण

नहीं होता—अतएव वेदों का कोई कर्ता नहीं तब तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, क्योंकि जब कर्ता का अभाव हो तब तो कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो और जब कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो तब कर्ता का अभाव सिद्ध हो। अतः वादि की दृष्टि से कर्ता का अस्मरण ठीक नहीं। यदि प्रतिवादि की दृष्टि से इष्ट है तब तो मिथ्या है। क्योंकि प्रतिवादि तो वेद में कर्ता का सद्भाव मानते ही हैं।

रहा उभय की दृष्टि से (वादि प्रतिवादि की से), सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिवादि कर्त्ता का सद्भाव मानते हैं। अतः उभय को कर्त्ता का अस्मरण ठीक नहीं। यह तो हुआ कर्त्ता के अस्मरण के सम्बन्ध में। रहा सन्तान के न टूटने के सम्बन्ध में—सो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि सन्तान नहीं टूटी—यह बात अभी तक प्रमाणित नहीं। अतः कर्त्ताका अस्मरण होने से और सन्तान के न टूटने से वेद अनादि हैं—यह बात भी ठीक नहीं और जब अनादि नहीं तब इसको अपौरुषेय (किसी का न किया हुआ) किस तरह माना जा सकता है।

वेद अपौरुषेय नहीं, पद वाक्यात्मक होने से—जो २ पद वाक्यात्मक होते हैं वे सब पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं; जैसे रामायणादि में पद वाक्यात्मक हैं। अतः ये भी पुरुष कृत हैं। हमारा पद वाक्यात्मक हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि यह वेद में मौजूद है. विरुद्ध नहीं। क्योंकि इसकी व्याप्ति अपौरुषेयत्व के साथ नहीं और न पक्ष,

सपक्ष, विपक्ष में ही रहता है; अतः अनैकान्तिक नहीं। कोई प्रमाण पक्ष का बाधक नहीं, अतः कालात्ययापदिष्ट भी नहीं। अपौरुषेयत्व का साधक समान बलवाला साधन नहीं, अतः प्रकरणसम भी नहीं। अतः हमारा हेतु निर्दोष है और ज़ब हेतु निर्दोष है तब सिद्ध करता है कि वेद पौरुषेय है। अतः वेद को अपौरुषेय मानना ठीक नहीं। यह तो हुआ वेद के अपौरुषेय के सम्बन्ध में!

अब रहा ईश्वर प्रणीतत्व के सम्बन्ध में—इसको एक आर्य्यसमाज की दृष्टि से और दूसरे सनातनधर्मियों की दृष्टि से, इस प्रकार दो भागों में विभक्त किये देते हैं जिससे विचार करने में सुभीता रहे। विभाग के अनुसार पूर्व हम आर्य्य-समाज के सिद्धान्त के अनुसार ही वेद के ईश्वर-कर्तृत्व पर विचार करते हैं।

आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के द्वारा वेदों का ज्ञान दिया था। आर्यसमाज के सिद्धांतानुसार अग्नि, वायु आदित्य और अङ्गिरा से तात्पर्य्य उपर्युक्त नाम के मनुष्य-देह-धारियों से है न कि प्रचलित अग्नि वगैरह से। उपर्युक्त चार मनुष्यदेहधारियों को ईश्वर ने ज्ञान दिया था, इसका यह तात्पर्य नहीं कि ईश्वर ने इच्छा की थी और उनकी आत्माओं में ज्ञान आ गया या शक्ति से ही उनकी आत्माओं में ज्ञान पैदा कर दिया था, किन्तु इन्हीं वेद मन्त्रों को ईश्वर ने उन चार मनुष्यदेहधारियों को समझाया था।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के जिन वचनों के आधार पर हमने अपनी उपयु क्त राय क़ायम की है, उसको हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं—

"इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? इसका यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान् है. उसमें ऐसी शङ्का करना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख व प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आता है कि मुख आदि अवयवों के विना मुखादि का कार्य्य नहीं कर सकते, क्योंकि हम लोग अल्पसामर्थ्य वाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं, तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार से होता है, वैसे ही परमेश्वर में जानना चाहिये और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ११—१२

प्रश्न—क्या गायत्री आदि छन्दों का भी रचन ईश्वर ने ही किया है?

उत्तर—यह शङ्का आपको कहां से हुई ?

प्रश्न—मैं तुमसे पूछता हूँ क्या गायत्री आदि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ?

उत्तर—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है ।

— ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १८

प्रश्न—जब सब जगत के परमाणु अलग अलग होकर कारणस्वरूप हो जाते हैं तब जो कार्य्यरूप सब स्थूल जगत है उसका अभाव हो जाता है। उस समय वेदों की पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है; फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ?

उत्तर—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है—वेद पक्ष में नहीं घटती। क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं।........ऋग्वेद से लेकर चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जो क्रम वर्तमान में है उसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है; क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है—उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती—, इस कारण वेदों को नित्य स्वरूप ही मानना चाहिये।

—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ २८।

उपर्युक्त वाक्यों में स्वामी जी का 'ईश्वर से शब्द की उत्पत्ति का मानना, उससे गायत्री आदि छन्दों की रचना की

स्वीकारता और गायत्री आदि छन्दों का सर्वदा ऐसा रहना' स्पष्टतया बतलाता है कि ईश्वर ने वेद-मन्त्रों द्वारा उन ऋषियों को ज्ञान दिया था। यदि ऐसा न होता तो—क्या तो ईश्वर से शब्दोत्पत्ति की कल्पना की ज़रूरत होती और क्या उस में गायत्री आदि छन्दों के सर्वदा विद्यमान होने की? यद्यपि स्वामी जी ने कहीं कहीं ऋषियों को ज्ञान देना भी लिखा है जैसा कि निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है :—

(प्रश्न') सत्य है कि ईश्वरने उनको ज्ञान दिया होगा।

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ १७।

किन्तु इस का अर्थ भी शब्दों द्वारा ज्ञान देना ही हो जायगा, क्योंकि ऐसा न होता तो उस में शब्दोत्पत्ति .... के मानने की ज़रूरत न पडती—जैसा कि ऊपर बतला दिया गया है। अत हमारा उपर्युक्त कथन कि ईश्वर ने ऋषियों को वेद मन्त्रों का उपदेश दिया था—निःसन्देह मानने योग्य है। इस बात के समर्थन में कि वेद ईश्वरकृत है—स्वामी दयानन्द जी ने निम्नलिखित वेदमन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में और पंक्तियाँ सत्यार्थप्रकाश में लिखी हैं :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—यजु० ३१-मन्त्र ७

इस मन्त्र का स्वामीजी का भावार्थ इस प्रकार है कि—सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप

है. जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुख स्वरूप और सब को सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणोंसे युक्त पुरुष जो सब जगह्में परिपूर्ण होरहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्ट देव और सर्व सामर्थ्ययुक्त है, उसी परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्ववेद भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
—अथर्व० का० १० प्रपा० २३ अनुवाक ४ मन्त्र २० ।

इस मन्त्र का स्वामी जी का भावार्थ इस प्रकार है कि— जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर है उसीसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-वेद और अथर्ववेद, यह चारों उत्पन्न हुए हैं।

—ऋ० भा० भू० पृ० ९-१०

(प्रश्न) वेद ईश्वर कृत हैं अन्यकृत नहीं, इस में क्या प्रमाण ?

(उत्तर) जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुण कर्म्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत है अन्य नहीं और जिसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त है। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा

अभी तो वह बीच में ही है। यही बात अथर्ववेद के सम्बन्ध में भी लागू होती है। क्योंकि उस के भी बीच के मन्त्र के आधे भाग में यह वर्णन मिलता है कि ईश्वर से अथर्ववेद उत्पन्न हुआ।

चौथी बात यह विचारणीय है कि पहिले यजुर्वेद हुआ या अथर्ववेद ? यदि यजुर्वेद—तब तो यजुर्वेद में इस प्रकार का कथन कहाँ से आ गया कि उस ही ईश्वर से अथर्ववेद भी उत्पन्न हुआ है। यदि अथर्ववेद--तो उसमें इस प्रकार का कथन कहाँ से आया कि इस ही ईश्वर से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ। और ये बातें "यजुर्वेदका अथर्ववेद को ईश्वरोक्त कहना और अथर्ववेद का यजुर्वेद को ईश्वरोक्त कहना" मिलती हैं जैसा कि उपर्युक्त वेदमन्त्रों से स्पष्ट है। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों मन्त्र वेद को ईश्वरोक्त प्रमाणित नहीं कर सकते, प्रत्युत वे तो इस के बाधक ही हो सकते हैं जैसा कि ऊपर बतला दिया जा चुका है।

सत्यार्थप्रकाश की उपर्युक्त पंक्तियां भी वेद को ईश्वरकृत प्रमाणित नहीं करतीं, क्योंकि उनके द्वारा कोई ऐसी बात नहीं बतलाई गई जिस से कि यह माना जा सके कि वेद ईश्वरकृत हैं। हाँ एक बात अवश्य है कि उन से यह प्रकट किया है कि जिन में ऐसी बाते हों—वे ईश्वरकृत हैं, किन्तु ईश्वरकृत पुस्तकों के लक्षण कथन से ही—यह बात थोड़े ही हो सकती है कि वेदों को भी ईश्वरोक्त मान लिया जाय। वेदों

को ईश्वरोक्त प्रमाणित करने के लिए तो यह बात आवश्यक है कि उनमें वे सब बातें घटायी जातीं जोकि ईश्वरोक्त होने में कही हैं किन्तु ऐसा किया नहीं गया। यदि ऐसा ही हो कि लक्षण या हेतु के लक्ष्य या पक्ष में विना घटाये भी काम चल जावे तो "पुस्तक में जीव है, क्योंकि इसमें ज्ञान होता है—जहां जहां ज्ञान होता है वहाँ वहाँ जीव होता है, जैसे मनुष्य; इस ही प्रकार तालाब में अग्नि है धूम के होने से—जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर—" यह कथन भी ठीक होना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर भी व्याप्ति तो दोनों की—धूम और ज्ञान की—ठीक है तथापि इन को ठीक नहीं माना, क्योंकि इनका पक्षमें रहना नहीं है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि केवल साधन का साध्य से अविनाभावी सम्बन्ध का होना ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह वहाँ भी रहे जहाँ कि उसके द्वारा साध्य का निर्णय करना है और यही कारण है कि उपर्युक्त दोनों हेतु पक्ष पुस्तक और तालाब में नहीं रहते; अतः वे गमक नहीं। यही अवस्था वेद के ईश्वरोक्तत्व में कही बातों के सम्बन्ध में है अर्थात् जब तक वे बातें वेद में न घटाई जावें तब तक वे वेद को ईश्वरोक्तत्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं।

इसके साथ ही साथ हम यह भी बता देना आवश्यक समझते हैं कि ये बातें जिस प्रकार कुरान और बाइबिलमें नहीं उस ही प्रकार वेदों में भी नहीं, इसका समर्थन हम आगामी

करेंगे। यह तो हुआ वेद को ईश्वरोक्तत्व साधन में दिये गये हेतुओं के सम्बन्ध में। अब विचारणीय यह है कि ऐसी कौन कौन सी बातें हैं जिनसे कि वेदों का ईश्वरोक्त होना वाधित है, क्योंकि साधक और बाधक प्रमाणों से ही वस्तु की सिद्धि होती है।

(१) आर्य्यसमाजियों ने वेद का लक्षण शब्द, अर्थ और इनका सम्बन्धस्वरूप ही माना है। यह बात कि आर्य्य-मतके अनुसार वेद का लक्षण उपर्युक्त प्रकार से है, असिद्ध नहीं; क्योंकि इस बात का समर्थन हम उनके शास्त्रोंके आधार से ही पहिले कर चुके हैं। वेद को उपर्युक्त प्रकार से मानने से उसकी उत्पत्ति ईश्वर से नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर अशरीरी है। अशरीरी होने के कारण ही वह शब्दों के बनाने में असमर्थ है, क्योंकि शब्द वर्णों का समुदायरूप है और वर्णों के बनाने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों की आवश्यकता है और ये सब शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। जिनके शरीर हैं वे तो वर्णों को बना सकते हैं, किन्तु जो अशरीरी हैं वे वर्णों को नहीं बना सकते। अतः ईश्वर भी अशरीरी होने से वर्णों को बना नहीं सकता।

इस ही प्रश्न को विधिकोटि में रखकर स्वामी दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ११-१२ पर निम्न-लिखित पंक्तियाँ लिखी हैं :—

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी

सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनोंके विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुखके विना मुख का काम और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आता है कि मुखादि विना मुखादि का कार्य्य नहीं कर सकते; क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये।"

स्वामीजी का इतनी ही पंक्तियों में एक बात तो यह कहना कि "यह दोष तो हम जीव लोगों में आता है कि मुखादि के बिना मुखादि का कार्य्य नहीं कर सकते, क्योंकि हम लोग अल्प शक्ति वाले हैं" और दूसरी बात यह कि "मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये" क्या विरोधात्मक नहीं? वहीं पर उसको दोष मानना और वहीं पर उसको व्यवहारतः सिद्ध करना, इस से बढ़ कर और क्या विरोधात्मक कथन हो सकता है। या तो यों कहना चाहिये था कि वर्णोच्चारण के साथ मुखादि अवयवोंका अविनाभाव नहीं। यदि होता तो मन में मुखादि के विना प्रश्नोत्तर रूप शब्दों का उच्चारण न होता;

या कि हम लोगों को वर्णोच्चारण में मुखादि साधनों की आवश्यक्ता पड़ती है, न कि ईश्वर को—वह तो बिना मुखादि के ही मुखादि का कार्य सामर्थ्य से ही कर लेता है; किन्तु ऐसा नहीं कहा। ऐसा तो कहने का वे तब प्रयत्न करते जब कि उन को इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट में देना होता उन की तो आन्तरिक अभिलाषा थी कि प्रश्न का उत्तर अस्पष्ट रूप से छोड़ दिया जाय, जैसा कि उनके उपर्युक्त उत्तर से स्पष्ट है।

स्वामी दयानन्दजी का मन में मुखादि अवयवों के बिना प्रश्नोत्तरादि रूप शब्दों के अस्तित्व को दिखा कर परमात्मा में बिना मुखादि अवयवों के शब्दोच्चारण को प्रमाणित करना ठीक नहीं; क्योंकि जिनको स्वामी जी ने मन में प्रश्नोत्तरादि रूप शब्द कहा है वे शब्द ही नहीं वे तो मन के संकल्प हैं। यदि उन संकल्पों में शब्दों के आकार होने से ही उन में शब्दों का अस्तित्व माना जावेगा तो उन में बहिरङ्ग पदार्थों के आकार होने से बहिरङ्ग पदार्थों का भी उनमें अस्तित्व मानना चाहिये, क्योंकि जिस तरह हम को मन में किसी बात के सोचने में शब्दों का आकार मालूम होता है उस ही प्रकार बाह्य पदार्थों का भी; किन्तु ऐसा माना नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब हम को उसके आकारादि स्पष्ट मालूम होते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य अपने मृत सम्बन्धियों के आकार को भी अपनी वासना के द्वारा ही स्पष्ट जान लेता है। यदि उस के

सामने किसी दूसरे का फ़ोटो लगा कर कहा जाय कि यह फ़ोटो तुम्हारे मृत सम्बन्धियों का है तो वह तुरन्त कहता है कि यह फ़ोटो हमारे सम्बन्धियों का नहीं है। उनकी आकृति तो अमुक थी। इससे स्पष्ट है कि उस के ज्ञान में उसके मृत सम्बन्धियों की आकृति का संस्कार है, जिसके कारण कि वह प्रस्तुत फ़ोटो को उन की नहीं बताता।

ज्ञान में बाह्य पदार्थों के आकार रहते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आकार बाह्य पदार्थों में से आकर ज्ञान में इकट्ठे हो जाते हैं, किन्तु जब हम बाह्य पदार्थों को जानते हैं तब हमारे ज्ञान में एक ऐसा संस्कार हो जाता है जिस के कारण कि हम कालान्तर में उनके अभाव में भी उन का स्पष्ट ज्ञान कर लेते हैं, जैसा कि एक विद्वान् ने एक कामी पुरुष के भाव को लेकर भावना के विषय में कहा है कि—

पिहितेकागागारे तमसि च सूची मुखाग्रदुर्भेद्य।
मयि च निमीलित नयने तथापि कान्ताननं व्यक्तं ॥

अर्थात्—जेलख़ाने में बन्द हूँ, अन्धेरा भी गाढ़ है और मैंने आँखें भी बन्द करली हैं, तो भी मुझ को स्त्री का मुख स्पष्ट मालूम होता है।

यदि ज्ञानमें संस्कार न होता तो क्या कभी ऐसी अवस्थामें स्त्री का स्पष्ट दर्शन हो सकता था—कभी नहीं; क्योंकि पदार्थज्ञान के लिये जिस प्रकार पदार्थ के अस्तित्व की आवश्यकता है, उसही प्रकार प्रकाश और व्याप्त इन्द्रियोंकी भी—

किन्तु यहाँ न बाह्य पदार्थ ही है न प्रकाश और न व्याप्त इन्द्रिय ही है, तथापि स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। अतः स्पष्ट है कि यह सब ज्ञान के संस्कार की उद्भूति का ही फल है। यही बात मानसिक संकल्प में प्रश्नोत्तररूप शब्दों के सम्बन्ध में है अर्थात् यद्यपि वहाँ शब्द नहीं, किन्तु जब पहिले शब्दोंको जाना था तब ज्ञान में उनका संस्कार हो गया था; अतः उसकी उद्भूति के कारण वैसा प्रतिभास होता है। यदि वह प्रतिभास संस्कार के कारण न होता, किन्तु वास्तव में शब्दों के अस्तित्व के कारण होता है—जैसा कि किसी के व्याख्यान सुनते समय होता है—तो नवीन २ शब्दों का ज्ञान होना चाहिये था; किन्तु नवीन २ शब्दों का ज्ञान न होकर उन्हीं का होता है जिनको हम पहिले सुन चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि वहाँ शब्दों का अस्तित्व नहीं, किन्तु संस्कार की उद्भूति के कारण ही शब्दों का प्रतिभास होता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब हम किसी बात का विचार करते हैं तब हमको नवीन २ वाक्यों का ज्ञान होता है, ठीक भी है। हम इसका निषेध कब करते हैं, किन्तु जब हम सोचते हैं तब हमको अनेक घटादिक पदार्थ भी तो एक जगह प्रतीत होने लगते हैं। इसको ही दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि मानसिक संकल्प में हम पहिले देखे हुए अनेक पदार्थों को एक जगह जान सकते हैं। दूर को पास; जैसे कलकत्ते के आकार को। यहाँ पर कहने का तात्पर्य

यह है कि हमारे ज्ञान में कलकत्ते का संस्कार है । अब हम उसको संकल्प द्वारा जैसा चाहें संकल्पित कर सकते हैं। उस ही प्रकार अलग अलग अनेक पदार्थों को यदि चाहें तो मानसिक संकल्प द्वारा एक जगह जान सकते हैं। हाँ यह बात अवश्य हैं कि ऐसे पदार्थ को जिसका संस्कार हमारे ज्ञान में नहीं, न दूर की बजाय पास ही देख सकते हैं और न अनेक पदार्थों में ही उसको मिला सकते हैं । ठीक यही अवस्था शब्दों में है: अर्थात् शब्दों के संस्कार हमारे ज्ञान में हैं। अब यह हमारे आधीन है कि उनके सम्बन्ध को हम किसी भी रूपमें रक्खें। यही कारण है कि जब हम चाहते हैं, जिस शब्द के संस्कार की उद्भूति कर लेते हैं और क्रमशः भिन्न २ रीति से उद्भूति करने से नवीन २ वाक्यों के आकारों का बोध होने लगता है.। इस का यह अर्थ कदापि नहीं कि नवीन २ शब्द समुदायस्वरूप नवीन २ वाक्य हैं ।

इसके सम्बन्ध में यहाँ यह प्रश्न और भी उठाया जा सकता है कि यदि वाह्य पदार्थों का और शब्दों का ज्ञान होने से ही उनका संस्कार हो जाता है तो जितने वाह्य पदार्थों को या शब्दों को हम जानते हैं उन सब का संस्कार होना चाहिये। और जब संस्कार मान लिया जायगा तो उनके अभाव में संस्कार की उद्भूति से ही उन का ज्ञान हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि यदि एक मनुष्य को मोटर में बैठ कर कलकत्ते के बाज़ार में घुमाया जाय और

बाद को यदि पूछा जाय कि तुम ने कौन कौन सी चीज़ देखी थी, तो वह बहुत कम चीजों को बता सक्ता है, यद्यपि उसने ज्ञान बहुत ज़्यादा किया था। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान होने से ही संस्कार नहीं होता।

हमारा यह कहना कहाँ है कि ज्ञान से संस्कार अवश्य हो जाता है, हमारा तो कहना है कि संस्कार ज्ञान से ही होता है; तात्पर्य यह है कि ज्ञान कई प्रकार का होता है। उसमें से धारणा नाम के ज्ञान से संस्कार होता है न कि सब से। यही कारण है कि वह आदमी कलकत्ते की समस्त वस्तुओं को जिन को कि उसने देखा था नहीं बतला सकता, किन्तु उन को ही बतला सक्ता है जिन में कि धारणा नाम का ज्ञान हो गया था। धारणा का लक्षण यही है कि जिसके द्वारा उसको उसका कालान्तर में स्मरण हो सके। उपर्युक्त कथन तो हमारे कथन की ही पुष्टि करता है कि जहाँ पर शब्दों में धारणा नाम का ज्ञान हो गया होगा वहीं हम उनका स्मरण करने और मानसिक व्यापार में जान सकते हैं। इस बात का अनुभव हमारे पाठकों को उस समय की अवस्था से कर लेना चाहिये, जब कि कोई उनसे किसी दूसरे मनुष्य के कथन को पूछता है किन्तु उन को उस समय वह याद नहीं आता और थोड़ी देर बाद वह याद आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनको उस समय संस्कार की उद्भूति नहीं हुई थी। अत उस बात का स्मरण उन को नहीं हुआ था, किन्तु

थोड़ी देर वाद संस्कार की उद्भूति हो गई; अतः स्मरण भी हो गया।

दूसरी बात यह भी है कि संस्कार का निषेध तो हमारे आर्यसमाजी भाई भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनके माने हुए महर्षि कणाद ने संस्कार का अस्तित्व एवं उस का स्मृति में कारणत्व स्पष्टतया स्वीकार किया है, जैसा कि निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है :—

आत्म मनसोः संयोग विशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः।

—वैशेषिकदर्शन अ० ९ आ० २ सूत्र० ६।

अर्थात्—आत्मा और मन के संयोग-विशेष से और संस्कार से स्मृति होती है। स्मृति जिस प्रकार घट पटादिक की होती है उस ही प्रकार दूसरों के शब्दों की भी। तथा स्मृति विना संस्कार के होती नहीं; अतः जिस प्रकार घट-पटादि का संस्कार ज़रूरी है उस ही प्रकार दूसरे के शब्दों का भी। और जब दूसरे के शब्दों का संस्कार माना जावेगा तब तो यह स्वयं स्पष्ट है कि जिस प्रकार वाह्य पदार्थों के अभाव में उनके संस्कारों की उद्भूति के कारण ही उन का मानसिक ज्ञान हो जाता है, उस ही प्रकार शब्दों के अभाव में उन के संस्कारों की उद्भूति के कारण ही उन का मानसिक ज्ञान में प्रतिभास होता है न कि शब्दों के अस्तित्व के कारण: अतः स्पष्ट है कि मानसिक संकल्प में शब्द नहीं।

इस के अतिरिक्त इस के सम्बन्ध में दो बातें और भी

विचारणीय हैं। पहिली तो यह है कि मानसिक सङ्कल्प में शब्द हो ही नहीं सकते, क्योंकि वहां उनकी उत्पत्ति के कारण ही नहीं। जब कारण ही नहीं तब कार्य्य कैसे हो सकता है? यह बात कि कारण के अभाव में कार्य्य का सद्भाव नहीं हो सकता, आर्य्यसमाजियों को भी इष्ट है। क्योंकि उनके माने हुए महर्षि कणाद ने इस का समर्थन किया है; जैसा कि उक्त महर्षि के निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है—

कारणाभावात्कार्याभावः

—वैशेषिकदर्शन अ० १ आ० २ सूत्र २

अर्थात्—कारणके अभाव से कार्य्यका अभाव होता है। यह बात कि शब्द उत्पन्न होता है असिद्ध नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण ही इस बात का समर्थन करता है; यानि शब्द उत्पन्न होते हुए और नाश होते हुए प्रत्यक्ष से ही जाने जाते हैं।

यदि शब्दों का उत्पन्न होना और नाश होना न माना जावेगा तो वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान शब्दों के क्रमश सुननेसे ही हो सकता है और यह बात शब्दों की उत्पत्ति मानने में ठीक बैठती है, अतः शब्द अनित्य है। नित्य पक्ष में वाक्यार्थ ज्ञान के न होने से, इस अनुमान से भी शब्दों की अनित्यता स्पष्ट है।

अधिक क्या स्वामी जी के माने हुए महर्षि कणाद ने स्वय शब्दों का उत्पन्न होना स्वीकार किया है; जैसा कि वैशेषिकदर्शन के निम्नलिखित सूत्रों से स्पष्ट है:—

(१) सतो लिङ्गाभावात् (अ० २ आ० २ सूत्र २६)

(२) नित्यवैधर्म्यात् (अ० २ आ० २ सूत्र २७)

(३) अनित्यश्चायं कारणतः (अ० २ आ० २ सूत्र २८)

(४) न चासिद्धम् विकारात् (अ० २ आ० २ सूत्र २६)

(५) अभिव्यक्तौ दोषात् (अ० २ आ० २ सूत्र ३०)

भावार्थ—(१) शब्द अनित्य है अन्तराल से—नाश और उत्पत्ति के बीच में उस की मौजूदगी को बतलाने वाले साधन के अभाव होने से । (२) शब्द अनित्य है नित्य से उलटा होने से । (३) शब्द अनित्य है कारण वाला होने से । (४) शब्द का अनित्यत्व असिद्ध नहीं, उसमें विकार का सद्भाव होने से । (५) शब्द अनित्य है, नित्य मान कर उसकी अभिव्यक्ति मानने में दोषों का सद्भाव होने से ।

इस ही प्रकार स्वामी जी के माने हुए न्यायदर्शनकार महर्षि गौत्तम और उसके ऊपर वात्स्यायन भाष्यके रचयिता वात्स्यायन मुनि ने भी शब्द को 'किया गया' माना है । प्रमाण निम्न प्रकार है :—

शब्द संयोगविभवाच्च सर्वगतम् ।

—न्यायदर्शन अ० ४ सूत्र २७

इसही सूत्र का वात्स्यायन भाष्य जिस से कि शब्द की अनित्यता स्पष्ट है निम्न प्रकार है :—

"आकाशस्यासर्वगतत्वम् स्यादित्यत्राहशब्दस्य संयोगस्य च यो विभवः अथवा शब्दजनकाभिघातसंयोगस्य यो

विभवः तस्मात् पुनः सर्वगतमाकाशमितिशेषः । सर्व देशे शब्दोत्पत्या तज्जनक संयोगानुमानात् सर्वमूर्त्त संयोगित्वरूप सर्व गतत्वम् तस्य सिद्धम् ।

आर्य्यसमाज के माने हुए महर्षि कपिल भी शब्द के अनित्यत्व को मानते हैं जैसा कि उन के सांख्यदर्शन के निम्न-लिखित सूत्र से स्पष्ट है :—

"न शब्द नित्यत्वम् कार्यता प्रतीतेः"

—सांख्यदर्शन अ० ५ सूत्र ५८ ।

भावार्थ—शब्द नित्य नहीं, क्योंकि उस में कार्यता मालूम होती है । अतः यह बात निःसन्देह मानने योग्य है कि शब्द उत्पन्न होते हैं ।

यहां यह समाधान करने का प्रयास किया जा सकता है कि दर्शन शास्त्रोंका उपयुक्त कथन हमारे शब्दोंके सम्बन्ध में है न कि ईश्वरीय शब्दों के; अतः वह यहां पर लागू नहीं होता । किंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दर्शन शास्त्र शब्द मात्र के अनित्यत्व का समर्थन करते हैं । प्रथम सांख्यदर्शन को ही लेलीजियेगा; यह दर्शन कपिल शाखा की दृष्टि से जीव और प्रकृति, इस प्रकार दो अनादि पदार्थ मानता है और पातञ्जलि की दृष्टि से जीव, प्रकृति और ईश्वर, इस प्रकार तीन । प्रकृति को भी कारणरूप और कार्यरूप इस प्रकार दो अवस्थाओं में माना है, जिनमें शब्द को कार्यरूप प्रकृति में गिनाया है ।

अतः स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन शब्द मात्र के अनित्यत्व का समर्थन करता है न कि शब्द विशेष के।

इसही प्रकार अन्य दर्शन शास्त्र भी शब्द मात्रके अनित्यत्व का समर्थन करते हैं, नकि शब्द विशेष के अनित्यत्व का। प्रमाण पहिले ही दिये जा चुके हैं। यदि वादि को इष्ट था कि दर्शन शास्त्रों का कथन अस्मदीय शब्दों के अनित्यत्व के सम्बन्ध में है तो उसको चाहिये था कि वह अपने शास्त्रों में इसका समर्थन दर्शनशास्त्रों के सूत्रों के आधार पर करता, किन्तु ऐसा किया नहीं है तथा न शब्दों को अनित्य बतलाने वाले सूत्रों वा भाष्यों में इस प्रकार का विभाग ही है। अतः केवल कथनमात्र से कि 'यह कथन अस्मदीय शब्दों के सम्बन्ध में हैं' बात नहीं मानी जा सकती।

वैशेषिक और न्याय दर्शनकारों ने शब्द को आकाश का गुण माना है तथा आकाश वेदानुसार अनित्य है। अतः वैदिक धर्मावलम्बी इन दर्शनों का सहारा लेकर भी शब्द को नित्य प्रमाणित नहीं कर सक्ते। आकाश के अनित्यत्व का वैदिक प्रमाण निम्नप्रकार है :—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका मन्त्र १२ पेज १२६

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द जी का भावार्थ निम्नप्रकार है—

उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेज स्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियाँ भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है।

स्वामी दयानन्दजी की उन दो युक्तियों पर भी जिनको उन्होंने वेदको नित्य प्रमाणित करने के प्रयास में शब्दों को नित्य प्रमाणित करने को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में दिया है उनपर हम पूर्व ही याने वेद के अपौरुषेयत्व पर विचार करते समय ही काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं; अतः यहां उनके दोहराने की आवश्यकता नहीं। उनदो युक्तियों में से पहिली वर्णों का नित्य होना है तथा दूसरी संकेत का ग्रहण होना।

इस विषय पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि स्वामी दयानन्दजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि ईश्वर में विना मुखादिक के शब्दों को उत्पन्न करने की शक्ति है और उससे ही वह उनको उत्पन्न करता है। प्रमाण हम इसही पुस्तक में पहिले लिख चुके हैं। जब स्वामी जी के मतानुसार ही ईश्वर उनको उत्पन्न करता है तब उनको नित्य कहना क्या आर्यसमाजियों के लिए न्यायसङ्गत है। यहाँ तो थोड़ा सा विचार इसलिए कर दिया है कि यदि कोई भाई स्वामी जी के कथन को प्रमाण न माने तो वह अपना समाधान उपर्युक्त विवेचन से करले।

अतः स्पष्ट है कि शब्दमात्र उत्पन्न होते हैं न कि शब्द विशेष। अब विचारणीय यह है कि शब्द की उत्पत्ति में किन किन कारणोंकी आवश्यकता होती है जिनका सद्भाव कि मानसिक संकल्प में नहीं। शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने निम्नलिखित सूत्र कहा है :—

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्द निष्पत्तिः

—वैशेषिकदर्शन अ० २ आ० सूत्र ३१

अर्थात्—शब्द की उत्पत्ति संयोग विभाग और शब्द से होती है। संयोग से तात्पर्य यहां भिन्न २ दो वस्तुओं के मिलने से है; जैसे हाथों का मिलना तथा विभाग से मिली हुई दो वस्तुओं के विछुड़ने सेजै से बांस का फटना। शब्द का अर्थ तो स्पष्ट ही है। ये तीनों बातें—संयोग, विभाग और शब्द—मानसिक सङ्कल्प में नहीं। अतः वहां पर शब्दों की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

इस के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यदि मानसिक संकल्प में शब्द होते तो उन का ग्रहण कर्म इन्द्रिय से होना चाहिये था, क्योंकि शब्द का लक्षण ही यह है कि जिस का ग्रहण कर्म-इन्द्रिय से हो जैसा कि वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद के निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है :—

श्रोत्र ग्रहणोयोऽर्थः स शब्दः।

—वैशेषिकदर्शन अ २ आ २ सूत्र २१।

न्याय दर्शनकार ने भी शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय का ही

विषय माना है जैसा कि न्यायदर्शन के निम्नलिखित सूत्रों से स्पष्ट है :—

प्रथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ।

—न्यायदर्शन अ० १ आ० १ सूत्र १३ ।

अर्थात्—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये भूत हैं।

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।

—न्यायदर्शन अ० १ आ० १ सूत्र १२,।

अर्थात्—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और कर्ण ये इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न होती हैं।

गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।

—न्यायदर्शन अ० १ आ० १ सूत्र १४ ।

अर्थात्—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पृथिव्यादिक के गुण है तथा उन इन्द्रियों के विषय हैं। इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि गन्ध पृथिवी का गुण है तथा घ्राण इन्द्रिय का विषय है। रस जल का गुण है तथा रसना इन्द्रिय का विषय है, रूप अग्नि का गुण है तथा चक्षु इन्द्रिय का विषय है, स्पर्श वायु का गुण है तथा स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है और शब्द आकाश का गुण है तथा कर्ण इन्द्रिय का विषय है। अन्य तो क्या स्वामी दयानन्द जी ने ही शब्द का लक्षण कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण होना माना है जैसा कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है:—

"तथा कान से सुन कर जिन का ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक इन्द्रियसे उच्चारण कर प्रकाशित होते हैं, और जिन का निवास-स्थान आकाश है, उन को शब्द कहते हैं"।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक सङ्कल्प में शब्द नहीं, किन्तु संस्कार की उद्भूति के कारण ही उनका प्रतिभास होता है; जैसा कि वाह्य पदार्थों का। और जब मानसिक संकल्प में शब्द ही नहीं तब उन के ही आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार मानसिक संकल्प में मुखादिक के अभाव में भी प्रश्नोत्तररूप शब्द हैं, उस ही प्रकार ईश्वर में भी। यह तो तब सम्भव हो सकता था जब कि मानसिक सकल्प में शब्दों का अस्तित्व होता, किन्तु ऐसा है नहीं जिस का समर्थन कि ऊपर किया जा चुका है।

ईश्वर से शब्दों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी बात यह कही थी कि वह सर्वशक्तिमान है। वह मुखादिक के बिना भी शब्दोच्चारण कर सकता है। यह दोष तो हम लोगों में आ सकता था, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं।

क्या ईश्वर अपने तुल्य दूसरा ईश्वर बना सकता है? क्या बिना उपादान कारण के कार्य को कर सकता है? क्या असत्का उत्पाद और सत्का अभाव करसकता है? क्या कर्मों के प्रतिकूल किसी के लिए भोगोपभोगकी सामिग्री उत्पन्न कर सकता है? जब ये प्रश्न होते है तब उत्तर मिलता है कि ईश्वर

असम्भव को सम्भव नहीं कर सकता । सम्भव कार्यों को ही उत्पन्न करता है । सम्पूर्ण संभव कार्यों के करने की ईश्वर में शक्ति है न कि असभव कार्यों के करने की । तथा सम्पूर्ण संभव कार्यों के करने को शक्ति के सम्बन्ध से ही उसको सर्वशक्ति-मान माना है । अस्तु हमें इसमें विरोध नहीं, हमारा यह कहना नहीं कि कोई असंभवको भी संभव कर सकता है, किन्तु विचारणीय यह है कि ये बातें असभव क्यों हैं? यदि न हो सकने से ही असभव हैं तो विना शरीर के शब्दों का होना भी असंभव है। जिस प्रकार बिना उपादानकारण के कार्य होता नहीं दीखता, उस ही प्रकार बिना शरीर के शब्द भी। जिस प्रकार सकर्तृक कार्य को कर्ता की सामर्थ्य की अपेक्षा है, उस ही प्रकार वाह्य साधनोंकी भी। न वाह्य साधनों के बिना कर्ताकी सामर्थ्य मात्र से ही कार्य हो सकता है और न कर्ता के बिना केवल वाह्यसाधनों से ही; किन्तु दोनों को ही अपेक्षा आवश्यक है ।

अधिक शक्तिसे तो लाभ इतना ही है कि वह उस कार्य को, जिसको उससे कम शक्ति वाला भी कर सकता है दृढ़ता से करता है; नकि यह कि उसको उसके लिए वाह्य साधनोंकी अपेक्षा ही नहीं। एक लाभ का कार्य है जिसमें कि दस हज़ार रुपयोंके लगाने की आवश्यक्ता है; उसको दो आदमी करते हैं। उनमें से एक के पास केवल दस हज़ार रुपया है और दूसरे के पास एक लाख। यद्यपि इस कार्यके लिए दस हज़ार ही रुपयों

की ज़रूरत है और अधिक रुपयों का होना इस कार्य पर कुछ असर नहीं रखता, तथापि एक लाख वाले को कार्य में जितनी दृढ़ता रहती है उतनी दस हज़ार वाले को नहीं । इसका कारण रुपये का अधिक होना ही है । जिस प्रकार अधिक रुपयों के कारण यहां कार्य में दृढ़ता रहती है, उस ही प्रकार अधिक शक्ति के कारण वहां । जिस प्रकार यहां दस हज़ार रुपया ही उपयोगी है, अधिक नहीं; उसही प्रकार वहां भी उतनी ही शक्ति उपयोगी है जितनी कि कम शक्ति वाले में है, अधिक नहीं । इसके लिए अन्य भी दृष्टान्त हैं जैसे—एक रबड़ का टुकड़ा है वह पांच गज़ तक खिंच सकता है । एक आदमी जिसमें थोड़ी शक्ति है उसको चार गज़ तक खींच सकता है और दूसरा आदमी जिसमें अधिक शक्ति है और यदि चाहे तो उस टुकड़े को पांच गज़ तक खींच सकता है, किन्तु खींचता है चार गज़ तक ही, तो उस की उतनी ही शक्ति उपयोग में आई जितनी कि कम शक्ति वाले में थी, क्योंकि कार्य में शक्ति का उपयोग कार्य के अनुसार है न कि कर्ता की सामर्थ्य के अनुसार । यदि ऐसा ही होता कि कर्ता की सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य में शक्ति का उपयोग होता तो थोड़ी शक्ति वाले से रबड़ चार गज़ तक न खिंचती; क्योंकि उसमें तो उतनी शक्ति की आवश्यकता होती जितनी कि अधिक शक्ति वाले में थी तथा इतनी शक्ति का उसमें अभाव था ।

अतः स्पष्ट है कि जितनी शक्ति से छोटी से छोटी शक्ति

वाला जिस कार्य को कर सकता है महान शक्ति वाले को भी उतनी ही शक्ति उस कार्यमें आवश्यकीय है। अधिक तो केवल दृढता का ही कारण है और जब ऐसी बात है तब जिस प्रकार अल्प सामर्थ्य वाले को बाह्यसाधनों की आवश्यकता अनिवार्य है, उसके बिना वह सामर्थ्य मात्रसे कार्य नहीं कर सकता; उस ही प्रकार अधिक शक्तिवाला भी। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर में चाहे जितनी भी शक्ति हो, किन्तु वह शरीर के बिना शब्दोच्चारण नहीं कर सकता तथा ईश्वरमें शरीर है नहीं, क्योंकि उस को अशरीरी माना है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर शब्दरूप वेद का उपदेश नहीं कर सकता।

ईश्वर में वेद-कथित बातों के ज्ञान का अभाव

यदि थोडी देरके लिए अभ्युपगम सिद्धांतसे यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर से शब्दों की उत्पत्ति हो सकती है, तब भी यह नहीं कहा जासक्ता कि वेद ईश्वरकृत है, क्योंकि वेदों में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान ईश्वर को नहीं। जिसको जिनका ज्ञान नहीं वह उनका उपदेशक किस प्रकार हो सकता है?

वेदों में सृष्टिक्रम, कर्म और उनके फल और अनेक क्षण में होने वाली बातों का वर्णन है, किन्तु ईश्वर को उनका ज्ञान नहीं; ऐसी अवस्था में ईश्वर उनका उपदेशक किस प्रकार हो

सकता है ? अधिकतर हमारे भाई इस बात को जानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः वह संसारकी समस्त वस्तुओं को जानता है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि संसार में कोई ऐसी भी वस्तु है जिसका ज्ञान ईश्वर को नहीं असम्भव है, किन्तु यदि वे इस बात का याने ईश्वर की सर्वज्ञता का आर्यसिद्धान्तानुसार गम्भीरता से विचार करेंगे तो उनको स्पष्ट हो जायगा कि इस सर्वज्ञता में कितना दम है। जिस प्रकार आर्यसमाज के अनेक ग्रन्थोंमें ईश्वरको सर्वज्ञ माना है, उस ही प्रकार उन्हीं में ईश्वर को त्रिकालदर्शी बतलाने वालों को मूर्ख भी बतलाया है। जिस प्रकार सर्वशक्तिमान का अर्थ सर्वसम्भव पदार्थों के करनेकी शक्तिवाला करते हैं, उसही प्रकार सर्वज्ञका भी संपूर्ण वर्तमान पदार्थों को जानने वाला याने वर्तमानज्ञ। यह बात कि आर्यग्रंथों में ईश्वर को त्रिकालदर्शी बतलाने वालों को मूर्ख बतलाया है निराधार नहीं; क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात का समर्थन करती हैं।

(प्रश्न) "परमेश्वर त्रिकालदर्शी है इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दंड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चिय किया है वैसा ही जीव करता है। (उत्तर) ईश्वरको त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है ...."।

—सत्यार्थप्रकाश अ० ७ पेज १२३।

ऐसी अवस्था में जब कि ईश्वर की सर्वज्ञता का अर्थ उसकी त्रिकालज्ञता नहीं है, यह भी स्पष्ट है कि ईश्वरको उन बातों का जिनका सम्बन्ध कि तीनों कालों से है, ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ यह समाधान किया जा सक्ता है कि जब ईश्वर को वर्तमान का ज्ञान है और हर एक वस्तु वर्तमानमें रह चुकी है तब उसको उसका सम्पूर्ण ज्ञान है ही और जब उसको उस का सम्पूर्ण ज्ञान है तो वह उसका उपदेश देही सकता है, किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुओं के कार्यकारण, कर्म और उनका फल और कार्यों के अनेक क्षणवृत्तित्व के निश्चय के लिए केवल उनकी सम्पूर्ण अवस्थाओं के ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उन ज्ञानों की एक क्षणवृत्ति या उन ज्ञानों की सहायता से उत्पन्न हुए एक भिन्न ही ज्ञान की आवश्यकता है। मट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, इसके निश्चय के लिए न केवल मट्टी का ही ज्ञान पर्याप्त है और न केवल घड़े का ही तथा न मट्टी और घड़े के दो स्वतन्त्र ज्ञान ही; किन्तु मट्टी-ज्ञान और घट ज्ञान की सहायता से उत्पन्न हुए एक तीसरे ही ज्ञान की ज़रूरत है, क्योंकि केवल मट्टी का ज्ञान मट्टी को जानता है—उसके लिये मट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, यह अविषय है। इस ही प्रकार घट-ज्ञान केवल घट को जानता है, उसके लिए भी मट्टीसे घड़ा उत्पन्न होता है यह अविषय है। इसही प्रकार दोनों ज्ञान भी मट्टी और घड़े को जानते हैं; मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, यह इन दोनों ज्ञानों का भी अविषय है।

दोनों ज्ञानों का अभेद भी हो नहीं सकता, क्योंकि जिस समय मट्टीका ज्ञान है, उस समय घट-ज्ञान नहीं और जिस समय घट-ज्ञान है उस समय मट्टी का ज्ञान नहीं। अतः स्पष्ट है कि जब इन दोनों ज्ञानों की सहायता से एक भिन्न ही ज्ञान उत्पन्न होता है तब इस बात का पता चलता है कि मट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब पहिले ज्ञान नष्ट होगये तो वे अगाड़ी के ज्ञान में किस प्रकार सहायता कर सकते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि ज्ञान नष्ट होगये हैं तथापि उनके संस्कार मौजूद हैं। उनका संस्कार द्वारा सहायता करना ही उनका सहायक होना है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर को भी, सृष्टिक्रम में आये हुए पदार्थों के भिन्न २ ज्ञान, कर्म और उनके फल के भिन्न भिन्न ज्ञान और अनेक क्षणवृत्ति पदार्थों के भिन्न २ क्षण के ज्ञान, उनका सृष्टि-क्रम ज्ञातृत्व, कर्मफल-ज्ञातृत्व और पदार्थों का अनेक-क्षणवृत्ति-त्व-ज्ञातृत्व प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। उनके लिए तो उन ज्ञानों से उत्पन्न हुए भिन्न ज्ञानों की या उनके एक क्षणवृत्तित्व की आवश्यकता है।

उन ज्ञानों से एक भिन्न ज्ञान का उत्पन्न होना तो ईश्वर में असम्भव है, क्योंकि यह तो वहां हो सकता है जहां कि मन है और जो लोग विचार सकते हैं कि अमुक ऐसा है और अमुक ऐसा तथा इनका सम्बन्ध इस प्रकार का होना चाहिये। मन का सद्भाव और विचारात्मक ज्ञान ईश्वर में माने नहीं हैं। यदि

ईश्वर में हम लोगों की तरह विचारात्मक ज्ञान होता तो उस में वर्तमान के ज्ञान का भी अभाव माना होता, क्योंकि या तो वह विचार सकता है या वर्तमान पदार्थ का ज्ञान ही कर सकता है। वर्तमान पदार्थ के ज्ञानका अभाव ईश्वर में आर्य-समाजियों ने माना नहीं है। अतः ईश्वर में विचारात्मक ज्ञान नहीं हो सकता और जब उसमें विचारात्मक ज्ञान ही नहीं हो सकता तब वह भिन्न २ ज्ञानों से एक स्वतन्त्र ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है जिससे वह भिन्न २ क्षणवर्ती पदार्थों के सम्बन्ध का निश्चय करे।

भिन्न २ ज्ञानों की एक क्षणवृत्ति से तात्पर्य भी उन ज्ञानों के ज्ञेयों का एक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होना ही है और यह ईश्वर के त्रिकालदर्शी न होने के कारण आर्यदर्शनानुसार ईश्वर में असं-भव है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वरको सृष्टिक्रम, कर्म और तत्फल और पदार्थों के अनेक क्षणवृत्तित्व के ज्ञान नहीं और जब उस को इनका ज्ञान ही नहीं तो वह इन का उपदेशक किस प्रकार हो सकता है?

उपर्युक्त बातों का वर्णन वेदों में मिलता है इस बात में हमारे आर्यसमाजी भाइयों को भी एतराज़ नहीं। इस विषय में आपस में विरोध न होनेके कारण ही इसके सम्बन्धके वेद-मन्त्रों को यहां नही लिखा, क्योंकि पुस्तक वेकार बढ़ जायगी। अतः स्पष्ट है कि इस दृष्टि से भी प्रचलित वेद ईश्वर कृत नहीं।

वेदों में
असंभव बातों का कथन

यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से यह भी मान लिया जाय कि ईश्वर में जगत के सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण अवस्थाओंका ज्ञान आर्यसिद्धान्तमें माना गया है तब भी यह नहीं कह सकते कि वेद ईश्वरकृत हैं, क्योंकि इनमें असम्भव बातों का भी वर्णन मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कथन में अन्यथा-पन, अज्ञान प्रमाद और द्वेष से आता है। एक विद्वान व्याख्यान दे रहा है—यदि कोई व्यक्ति उससे ऐसा प्रश्न करता है जिसका उसको ठीक उत्तर नहीं मालूम, तथापि वह उसका कुछ न कुछ उत्तर दे देता है जिससे कि उसकी अवज्ञा न हो कि विद्वान महाशय अज्ञानी हैं या यदि कोई व्यक्ति किसी के तात्पर्य को उलटा समझता हैं और अपनी समझके अनुसार ही वह उस का उपदेश देता है। उपर्युक्त प्रकार के कथन अज्ञानकृत कथन हैं। यदि कोई शिष्य आकर गुरूजी से प्रश्न करता है साथ ही साथ यह भी कहता है कि क्या गुरूजी इसका उत्तर अमुक है? गुरू जी महाराज आराम कर रहे हैं यदि वह वास्तविक उत्तर देंगे तो उनको पुस्तक देखनी होगी तथा पुस्तक के देखने में आराम में बाधा आवेगी। अतः वे कह देते हैं कि ठीक है यह प्रमाद कृत उपदेश है। एक गुरू जी कुछ शिष्यों को पढ़ाया करते थे। अचानक गुरू जी एक शिष्य से नाराज़ हो गये, तब उनको चिन्ता हुई कि यदि इसको पढ़ाया जायगा तो यह मेरा

मुकाविला करेंगा। अतः इसको कुछ का कुछ पढ़ा देना चाहिये तथा उन्होंने ऐसा ही किया। यह द्वेषवश उपदेश है । जहां अज्ञान, प्रमाद और द्वेष आदि दोष है वहां ही उपदेशमें अन्यथा-पन की संभावना है न कि वहां, जहां कि सर्वज्ञता प्रमाद रहित और वीतरागता है, क्योंकि जो सर्वज्ञ है वह संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। कोई ऐसी बात नहीं, चाहे वह किसी भी काल की क्यों न हो या चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, जिसको सर्वज्ञ यथावत् नहीं जानता। सर्वज्ञ को पदार्थ की प्रत्येक शक्ति का परिज्ञान है वह स्पष्टतया जानता है कि अमुक २ पदार्थ अमुक २ कार्य के लिए उपयोगी है । ज्ञान के साथ ही साथ ईश्वर में प्रमादरहितत्व और वीतरागतादिक अन्य गुण भी माने गये है। अतः ईश्वर के कथन में अन्यथापन नहीं आसकता और जब अन्यथापन नहीं आसकता तो उसके कथन में असम्भवदोष याने असम्भव बातोंका सम्भवरीतिसे कथन भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापक के अभाव में व्याप्य नहीं रहता, यह न्याय का सर्वतंत्र सिद्धान्त है । यदि वेद ईश्वर के उपदेश होते तो इनमें भी असम्भव बातों का वर्णन न मिलता, किन्तु ऐसा है नहीं; याने वेदों में असम्भव बातों का सम्भवरीति से वर्णन मिलता है। अतः स्पष्ट है कि वेद ईश्वर कृत नहीं । यह बात कि "वेद में असम्भव बातों का वर्णन है' असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेद-मन्त्र इस बात का समर्थन करते हैं :—

यजुर्वेद अध्याय ५ मन्त्र ६

पदार्थः—जिसलिये हे (अग्ने) (व्रतपते) जगदीश्वर ! आप वा बिजली सत्यधर्मादि नियमों के (व्रतपाः) पालन करने वाले हैं इसलिये (त्वे) उस आप वा बिजली में मैं (व्रतपाः) पूर्वोक्त व्रतों के पालन करने वाली क्रिया वाला होता हूँ (या) जो (इयम्) यह (तव) आप और उसकी (तनूः) विस्तृत व्याप्ति है (सा) वह (मयि) मुझ में (यो) जो (एषा) यह (मम) मेरा (तनू) शरीर है (सा) सो (त्वयि) आप वा उसमें है (व्रतानि) जो ब्रह्मचर्य्यादि व्रत हैं वे मुझमें हों और जो (मे) मुझमें हैं वे (त्वयि) तुम्हारे में हैं जो आप वा वह (तपस्पतिः) जितेन्द्रियत्वादि पूर्वक धर्मानुष्ठानके पालक निमित्त हैं सो (मे) मेरे लिये (तपः) पूर्वोक्त तपको (अनुमन्यताम्) विज्ञापित कीजिये वा करती है और जो आप वा वह (दीक्षा-पतिः) व्रतोपदेशों के रक्षा करने वाले हैं सो (मे) मेरे लिये (दीक्षा) व्रतोपदेश को (अनुमन्यताम्) आज्ञा कीजिये वा करती है सो इसलिये भी (नौ) मैं और आप पढ़ने पढ़ाने-हारे दोनों प्रीति के साथ वर्तकर विद्वान् धार्मिक हों कि जिससे दोनों की विद्यावृद्धि सदा होवे ॥६॥

अध्याय ५ मन्त्र ३२

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जिस कारण आप (उशिक्) कान्तिमान् (असि) हैं (अंघारिः) खोके चलन वाले जीवोंके शत्रु वा (कविः) क्रान्तप्रज्ञ (असि) हैं (बम्भारिः) बन्धन के

शत्रु वा तारादि तन्तुओं के विस्तार करने वाले (असि) हैं (दुवस्वान्) प्रशंसनीय सेवायुक्त स्वयं (शुन्ध्यूः) शुद्ध (असि) हैं (मार्जालीयः) सबको शोधने वाले (सम्राट्) और अच्छे प्रकार प्रकाशमान (असि) हैं (कृशानुः) पदार्थोंको अतिसूक्ष्म (पवमानः) पवित्र और (परिषद्यः) सभा में कल्याण करने वाले (असि) हैं जैसे (प्रतक्वा) हर्षित और (न भः) दूसरे के पदार्थ हर लेने वालों को मारने वाले (असि) हैं (हव्यसूदनः) जैसे होम के द्रव्य को यथा-योग्य व्यवहार में लाने वाले और (सृष्ट) सुख दुख को सहन करने और कराने वाले (असि) हैः जैसे (स्वर्ज्योतिः) अन्तरिक्ष को प्रकाश करने वाले (ऋतधामा) सत्य धाम युक्त (असि) हैं वैसे ही उक्त गुणों से प्रसिद्ध आप सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य हैः ऐसा हम लोग जानते हैं ॥२२॥

अध्याय ७ मन्त्र ३७

पदार्थः—ईश्वर कहता है कि हे (इन्द्र) सब सुखों के धारण करने हारे (शूर) शत्रुओं के नाश करने में निर्भय ! जिससे तू (उपयामगृहीत) सेना के अच्छे २ नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है इससे (मरुत्वते) जिस में प्रशंसनीय वायु की अस्त्र विद्या है उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य पहुंचाने वाले युद्ध के लिये (त्वा) तुझको उपदेश करता हूँ कि (ते) तेरा (एषः) यह सेनाधिकार (योनिः) इष्ट सुखदायक है। इससे (मरुत्वते) (इन्द्राय) उक्त युद्ध के लिये यत्न करते

हुए तुझको मैं अङ्गीकार करता हूँ और (सजोषाः) सब से समान प्रीति करने वाला (सगणः) अपने मित्र जनोंके सहित तू (मरुद्भिः) जैसे पवन के साथ (वृत्रहा) मेघ के जल को छिन्न भिन्न करने वाला सूर्य्य (सोमम्) समस्त पदार्थोंके रस को खींचता है वैसे सब पदार्थोंके रस को (पिब) सेवन कर और इससे (विद्वान्) ज्ञानयुक्त हुआ तू (शत्रून्) सत्यन्याय के विरोध में प्रवृत्त हुए दुष्ट जनोंका (जहि) विनाश कर (अथ) इसके अनन्तर (मृध) जहां दुष्ट जन दूसरे के सुख से अपने मन को प्रसन्न करते हैं उन संग्रामों को (अपनुदस्व) दूर कर और (नः) हम लोगों को (विश्वतः) सब जगह से (अभयम्) भय रहित (कृणुहि) कर ॥ ३७ ॥

अध्याय १३ मन्त्र ५१

पदार्थः—हे राजन् तू जो (हि) निश्चित (अजः) बकरा (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है (सः) वह (अग्ने) (प्रथम) (जनितारम्) उत्पादक को (अपश्यत्) देखता है जिससे (मेध्यास) पवित्र हुए (देवाः) विद्वान् (अग्रम्) उत्तम सुख और (देवताम्) दिव्य गुणों के (उपायन) उपाय को प्राप्त होते हैं और जिससे (रोहम्) वृद्धियुक्त प्रसिद्धि को (आयन्) प्राप्त होवें (तेन) उससे उत्तम गुणों उत्तम सुख तथा (तेन) उससे वृद्धि को प्राप्त हो जो (आरण्यम्) बनेली (शरभम्) शेही (ते) तेरी प्रजा को हानि देने वाली है उसको (अनुदिशामि) बतलाता हूँ (तेन) उससे बचाए हुए पदार्थ से

(चिन्वानः) बढ़ता हुआ (तन्वः) शरीरमें (निषीद) निवास कर और (तम) उस (शरभम्) शल्यकी को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त हो और (ते) तेरे (यम्) जिस शत्रु से हम लोग (द्विष्मः) द्वेष करें उसको (शोकात्) शोकरूप (अग्नेः) अग्नि से (शुक्) शोक अर्थात् शोक से बढ़कर शोक अत्यन्त शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥५१॥

अध्याय २१ मंत्र ४३

पदार्थः—हे (होतः) देने हारे जैसे (होता) लेने वाला (अश्विनौ) पढ़ाने और उपदेश करने वालों को (यक्षत्) सङ्गत करे और वे (अद्य) आज (छागस्य) बकरा आदि पशुओं के (मध्यतः) बीच से (हविषः) लेने योग्य पदार्थ का (मेदः) चिकना भाग अर्थात् घी दूध आदि (उद्भृतम्) उद्धार किया हुआ (आत्ताम्) लेवे वा जैसे (द्वेषोभ्यः) दुष्टों से (पुरा) प्रथम (गृभः) ग्रहण करने योग्य (पौरुपेय्याः) पुरुषों के समूहमें उत्तम स्त्री के (पुरा) पहिले (नूनम्) निश्चय करके (घस्ताम) खावे वा जैसे (यवसप्रथमानाम्) जो जिनका पहिला अन्न (घासेअज्राणाम्) जो खाने में आगे पहुँचने योग्य (सुमत्क्षराणाम्) जिन के उत्तम २ आनन्दों का कम्पन आगमन (शतरुद्रियाणाम्) दुष्टों को रुलाने हारे सैकड़ों रुद्र जिन के देवता (पीवोपवसनानम्) वा जिन के मोटे २ कपड़ों के ओढ़ने पहिरने (अग्निष्वात्तानाम्) वा जिन्होंने भली भाँति अग्नि विद्या का ग्रहण किया

थी। न जाने, कितनी बार उसमे दया की भीख मांगी गई, पर शान और वैभव का महल दया की नीव पर भी कभी खडा हुआ है। दुर्बल को अपनी दुर्बलता का दण्ड सहना ही होगा।

परन्तु आजकल घूम-फिर कर यह विचार मन मे आ ही जाता था कि क्या उसने जो कुछ किया, वह सब ठीक किया। यदि कुछ लोगो पर दया दिखलाकर उनके आशीर्वाद ले लेता तो कैसा होता ? और हा, यदि कोई देवी-देवता हो, यदि ईश्वर हो, तो क्या होगा ? क्या उसका आचरण उनको बुरा लगा होगा ? क्या कभी उनका सामना हो सकता है ? क्या कभी उससे व्यवहार की आलोचना भी हो सकती है ? दण्ड भी मिल सकता है ?

दण्ड कौन देगा ? उसने यह सुन रखा था कि मरने के बाद पुण्य-पाप, भले-बुरे का लेखा-जोखा होता है। स्वर्ग-नरक की भी चर्चा सुन रखी थी, पर एक तो ये सब बाते उसके लिए कोरी कहानियां थीं, भोले-भाले लोगो को बहकाने के लिए बहाना थी। दूसरे, इनका सबध मरणोत्तर काल से था। वह यह तो मानता था कि एक दिन उसे भी मरना होगा, परन्तु मृत्यु की बात को वह अपने मस्तिष्क से दूर ही रखता था। फिर भी आजकल न जाने क्यो, यह विचार बार-बार आता था। सम्भवत. उसकी लम्बी रुग्णावस्था ने मस्तिष्क को भी कुछ दुर्बल कर दिया हो।

उफ, मृत्यु ! क्या सचमुच मरना ही होगा ? क्या यह सब, घर, खजाना, बाग, सवारी, कुटुम्बी, छोडना होगा ? एक-एक का चित्र उसके सामने आता था। प्रत्येक चित्र से कठ रुधा जाता था। अच्छा, यह सब छूट जाय, तब फिर आगे क्या होगा ? माथे पर पसीना आ रहा था, हाथ-पांव ठडे हुए जा रहे थे। क्या कोई

अध्याय २१ मन्त्र ६०

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (अद्य) आज (सूपस्थाः) भली भाँति समीप स्थिर होने वाले और (देवः) दिव्य गुण वाला पुरुष (वनस्पतिः) वट वृक्ष आदि के समान जिस २ (अश्विभ्याम्) प्राण और अपान के लिये (छागेन) दुःख विनाश करने वाले छेरी आदि पशु से (सरस्वत्यै) वाणी के लिये (मेषेण) मेढा से (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य के लिये (ऋषभेण) बैल से (अक्षन्) भोग करें (उपयोगलें) (तान्) उन (मेदस्तः) सुन्दर चिकने पशुओं के (प्रति) प्रति (पचता) पचाने योग्य वस्तुओं का (अगृभीषत) ग्रहण करें (पुरोडाशैः) प्रथम उत्तम संस्कार किए हुए विशेष अन्नोंसे (अवीवृधन्त) वृद्धि को प्राप्त हो (अश्विना) प्राण अपान (सरस्वती) प्रशंसित वाणी (सुत्रामा) भली भाँत रक्षा करने हारा (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा (सुरासोमान्) जो अरक खींचने से उत्पन्न हो उन औषधि रसों को (अपुः) पीवे वैसे आप (अभवत्) होओ ॥ ६० ॥

अध्याय ३७ मन्त्र ६

पदार्थः—हे मनुष्य ! जैसे मैं (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के (देवयजने) विद्वानों के यज्ञस्थल में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) अग्नि आदि के (शकना) दुर्गन्ध के निवारण में समर्थ धूम आदि से (त्वा) तुझको (मखाय) वायु को शुद्ध करने के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) शोधक पुरुष के (शीर्ष्णे) शिर

रोग की निवृत्ति के अर्थ (त्वा) तुझको (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूँ (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच विद्वानों के (देवयजने) यज्ञस्थल में (वृष्णः) वेगवान (अश्वस्य) घोड़े की (शक्ना) लेंडी-लीद से (त्वा) तुझको (मखाय) पृथिव्यादि के ज्ञान के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) तत्वबोध के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझ को (मखाय) यज्ञसिद्धि के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव की सिद्धि के लिये (त्वा) तुझको (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूँ। (पृथिव्याः) भूमि के बीच (देवयजने) विद्वानों की पूजास्थल में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) शीघ्रगामी अग्नि के (शक्ना) तेज आदि से (त्वा) आपको (मखाय) उपयोग के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) उपयुक्त कार्य्य के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझको (मखाय) यश के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझको (मखाय) यश के लिये (त्वा) तुझको (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझको (मखाय) यज्ञ के लिये (त्वा) आपको और (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तम अवयव के लिये (त्वा) तुझको (धूपयामि) सम्यक् तपाता हूँ ॥ ६ ॥

ऋग्वेद अष्टक ४ अध्याय ७ वर्ग ४ सूक्त ३२ मन्त्र २

पदार्थः—हे मनुष्यो जैसे (सूर्य्येण) सूर्य्य के सहित बिजुलीरूप अग्नि (अद्रिम्) मेघ को (रुजत्) स्थिर करता और (कवीनाम्) विद्वानों के (मातरा) माता पिता को (अवासयत्) बसाता है वैसे ही जो राजा (स्वाधीभिः) सुन्दर स्थान जिन के उन नीतियों और (ऋक्भिः) प्रशंसा के

योग्य व्यवहारों के साथ (गृणानः) स्तुति करता और (वावशानः) कामना करता हुआ जैसे सूर्य्य (उस्रियाणाम्) किरणों के (निदानम्) निश्चय को वैसे निश्चय को (उत् असृजत्) उत्पन्न करता है (सः) वह राजा सब से सत्कार करने योग्य है ॥ २ ॥

उपर्युक्त वेद-मंत्रों में से पहिले मंत्र में "मै और आप पढ़ने पढ़ाने हारे दोनों प्रीति के साथ वर्तकर विद्वान् धार्मिक हों कि जिससे दोनों की विद्या-वृद्धि सदा होवे" बतलाया गया है। दूसरे में "जैसे होम के द्रव्य को यथा योग्य व्यवहार में लाने वाले और सुख दुःख को सहन करने और कराने वाले है, जैसे अन्तरिक्ष को प्रकाश करने वाले और सत्यधामयुक्त है, वैसे ही उक्त गुणों से प्रसिद्ध आप सब मनुष्योंको उपासना करने योग्य है, ऐसा हम लोग जानते हैं" बतलाया गया है। तीसरे में "ईश्वर कहता है कि........उन संग्रामों को दूर कर हम लोगों को सब जगह से भय रहित कर" बतलाया गया है। चौथे में "हे राजन् तू जो निश्चित बकरा उत्पन्न होता वह प्रथम उत्पादक को देखता है जिस से पवित्र हुए विद्वान् उत्तम सुख और दिव्य गुणों के उपाय को प्राप्त होते हैं" बतलाया गया है। पांचवें मंत्र में "बकरा आदि पशुओं के बीच से लेने योग्य पदार्थ का चिकना भाग अर्थात् घी दूध आदि" बतलाया गया है। छठे में "प्राण और अपान के लिये छेरी, विशेष ज्ञानयुक्त वाणी के लिए भेड और परमेश्वर्य के लिए

बैल को बांधते हुए" बतलाया गया है। सातवें में "प्राण और अपान के लिए दुःख विनाश करने वाले छेरी आदि पशु से वाणी के लिए मेंढ़ा से परमेश्वर्य के लिए बैल से भोग करे" बतलाया गया है। आठवें में "पृथिवी के बीच विद्वानों के यज्ञ-स्थल में वेगवान घोड़े की लेंडी लीद से तुझ को पृथिव्यादिक के ज्ञान के लिए तुझ को तत्त्वबोध के उत्तम अवयव के लिये तुझको यज्ञसिद्धि के लिये तुझको सम्यक् तपाता हूँ" बतलाया गया है। नववें में "हे मनुष्यों जैसे सूर्य के सहित बिजुलीरूप अग्नि मेघ को स्थिर करता है" बतलाया है।

ये सब बातें असम्भव हैं, क्योंकि ईश्वर को सर्वज्ञ सदा सुखी, निर्भय आदि गुणों से सहित माना है फिर उसमें ज्ञान-वृद्धि, दुःख का सद्भाव और निर्भीकत्व की भावना का वर्णन, असम्भव बात का वर्णन है। राजा का निश्चित बकरा होना और उस को अपने उत्पादक को देखना तथा उस को पवित्रता का कारण मानना असम्भव कथन नहीं तो क्या है? जिस को यह ही नहीं मालूम कि उस का उत्पादक कौन है उस के लिए यह बतलाना कि वह अपने उत्पादक को देखता है चण्डूखाने की गप्प नहीं तो क्या है? बकरी से दूध और घी होता है यह तो साधारण से साधारण मनुष्य जानता है, किन्तु बकरे का घी दूध नहीं। जहां वैद्यक शास्त्र में घी दूध की उत्पत्ति के कारण बतलाये हैं वहाँ यह भी बतलाया है कि ये बातें बकरियों वगैरा स्त्री-पर्याय धारियों में ही हो सकती हैं,

अतः यह कथन भी असम्भव कथन है। न बैल आदि के बांधने से ही परमैश्वर्यादिक हो सकते हैं और न उन के साथ भोग करने से ही। ये बातें तो प्राकृतिक नियम के भी प्रतिकूल हैं, अतः इन का कथन भी असम्भव कथन है। इस ही प्रकार घोड़े की लीद को पृथिव्यादिक के तत्वज्ञान में कारण मानना असम्भव बात का वर्णन करना है, क्योंकि तत्वज्ञान से इस का कोई सम्बन्ध नहीं। तत्वज्ञान के अन्दर कारण तो धर्म-विशेष को माना है जैसा कि वैशेषिकदर्शन के सूत्र ४ अ० १ से स्पष्ट है। यदि वादिके इस कथन को सत्य मान लिया जाय तो न तो यज्ञ की ज़रूरत है और न विद्यालय और पाठशालाओं की, क्योंकि ये सब ज्ञान के लिए ही किए जाते हैं तथा ज्ञान की प्राप्ति लीद के तपाने से होती है अतः लीद को ही स्थान २ पर तपाना चाहिये। हमारे आर्यसमाजी भाई भी इस कथन की असारता स्वयं समझते हैं, अन्यथा उन के गुरुकुलों और यज्ञशालाओं के स्थानों में लीद तपाने के स्थान प्रतीत होते, किन्तु ऐसा है नहीं; अतः स्पष्ट है कि यह कथन असम्भव कथन है।

दो मेघों के संयोग से ही बिजुली उत्पन्न होती है फिर वह उन की स्थिरता का कारण किस प्रकार हो सकती है? उसके साथ सूर्य संयोग विशेष का वर्णन भी व्यर्थ है, क्योंकि सूर्य संयोग से यहां किसी विशेषता की संभावना नहीं; अतः ऐसा कथन कि सूर्य के संयोग से बिजुली मेघों की स्थिरता

का कारण है असम्भव कथन है। जबकि उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वेदों में असम्भव बातों का वर्णन है तो ये सर्वज्ञ के उपदेश किस प्रकार हो सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि "प्रचलित वेद ईश्वरकृत नहीं।"

"वेदों में परस्पर विरुद्ध कथन"

जिस प्रकार ईश्वर के कथन में असम्भव बातों का वर्णन नहीं हो सकता, उस ही प्रकार परस्पर विरुद्ध बातों का भी। ईश्वर के सर्वज्ञत्वादिक गुण जिस प्रकार उसके कथन को असम्भव बातों के वर्णन से बचाते हैं उसही प्रकार परस्पर विरुद्ध बातों के कथन से भी। जहाँ भी आप परस्पर विरुद्ध बातों का वर्णन पायँगे वहाँ आप को अज्ञान, राग, द्वेष और मोह में से अवश्य किसी न किसी का सद्भाव मिलेगा। यदि कोई व्यक्ति अपने पूर्व कथन से विरुद्ध कथन करता है तो या तो वह अज्ञानी है अर्थात् उसको वस्तु का वास्तविक स्वरूप-ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञानी भी है और वस्तु के स्वरूप का भी दृष्टि निरपेक्ष परस्पर विरुद्ध कथन करता है तो वह रागी या द्वेषी होना चाहिये जिससे जानकर भी वह विपरीत वर्णन करता है। यदि ज्ञानी भी है और न उसमें राग और द्वेष ही हैं तब भी वह वस्तु के स्वरूप का परस्पर विरुद्ध कथन करता है तो वह मोही होना चाहिये, क्योंकि ऐसी अवस्था में बिना मोह के परस्पर विरुद्ध कथन नहीं कर सकता। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जहाँ उपर्युक्त दोष समष्टि या व्यष्टिरूप से

वर्तमान है वहीं कथन में परस्पर विरोध हो सकता है न कि वहाँ जहाँ कि सर्वज्ञत्वादिक। वेद में परस्पर विरुद्ध बातों का वर्णन मिलता है, अतः "कार्येण कारण विशेषगुणोऽनुमेयः" अर्थात् कार्य से ही कारण के विशेषगुण का अनुमान होता है, प्रचलित कहावत के अनुसार स्पष्ट है कि उनका रचयिता कोई सर्वज्ञत्वादिक गुणों से रहित होना चाहिये, और ये गुण ईश्वर में माने गये हैं; अतः स्पष्ट है कि ईश्वर वेदों का रचयिता नहीं। यह बात कि वेदों में परस्पर विरुद्ध बातों का वर्णन है असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेदमंत्र इस बात का समर्थन करते है। पूर्व इसके कि हम वेदों के परस्पर विरुद्ध कथन के सम्बन्ध में वेदमन्त्र लिखें, इस विषय को—वेद के परस्पर विरुद्ध कथन को—आकाशविरोध, मुक्तिविरोध, हिंसाविरोध और मांसभक्षण विरोधादि विषयों में विभाजित किये देते हैं ताकि विचार में सहूलियत रहे। विभाग के अनुसार हम यहां आकाश के सम्बन्ध में ही पहिले लिखते है। कुछ वेदमन्त्र तो आकाश को अनित्य और कुछ नित्य बतलाते हैं; अतः आकाश के सम्बन्ध में वेदों में परस्पर विरोधात्मक वर्णन है, यह बात स्पष्ट है। यह बात कि वेदों में दोनों प्रकार के याने आकाश को नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का बतलाने वाले वेदमन्त्र हैं असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेदमन्त्र इस बात का समर्थन करते हैं। पाठकों के सुभीते के लिए आवश्यकीय अंश को मोटे टाइप में कर दिया है :—

ततो विराड जायत विराजो अधिपूरुषः ।
सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥

—ऋ० भू० (वि० सं० १६३५) पृष्ठ १२२ मन्त्र ५

विराट् जिसका ब्रह्मांड के अलङ्कार से वर्णन किया है जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है जिसको मूल प्रकृति कहते हैं जिसका शरीर ब्रह्मांड के समतुल्य जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी है वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हो के प्रकाशमान हो रहा है (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्वों के पूर्व भागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक २ उत्पन्न हुआ है जिसमें सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि औषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है (सजातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसार रूप देह से सदा अलग रहता है (पश्चाद्भूमिमथोपुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

—ऋ० भू० (वि० सं० १६३५) पृष्ठ १२६ मन्त्र १२

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप

सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियाँ भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई है और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है।

इन दोनों मन्त्रों में आकाश को स्पष्टतः किया गया वर्णन किया है तथा नीचे लिखे मन्त्र उसके नित्य होने का समर्थन करते हैं :—

> आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
> हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।
> —यजुर्वेद अ० ३३ मं० ४३

हे मनुष्यो ! जो (ज्योतिः स्वरूप) रमणीय स्वरूप से (कृष्णेन) आकर्षण से परस्पर सम्बद्ध (रजसा) लोकमात्र के साथ (आ, वर्तमानः) अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ (भुवनानि) सब लोकों को (पश्यन्) दिखाता हुआ (देवः) प्रकाशमान (सविता) सूर्यदेव (अमृतम्) जल वा अविनाशी आकाशादि (च) और (मर्त्यम्) मरणधर्मा प्राणिमात्र को (निवेशयन्) अपने अपने प्रदेश में स्थापित करता हुआ (आ, याहि) उदयास्त समय में आता जाता है सो ईश्वर का बनाया सूर्य्यलोक है।

इसही प्रकार स्वयं स्वामीजी महाराजने सत्यार्थप्रकाश में स्पष्टतौर से आकाश को नित्य माना है जैसा कि उनके निम्न-

कथन से स्पष्ट है :—"जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।"

—सत्यार्थप्रकाश संस्करण १६ वाँ पेज १३८ अध्याय ८

यहाँ हम अपने पाठकों को इतना और बतला देना मुनासिब समझते हैं कि जिसप्रकार वेदों में आकाश के नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में विरोधात्मक वर्णन है उसही प्रकार स्वामी दयानन्दजी के कथन में भी। आकाश को नित्य बतलाने वाला स्वामीजी का कथन तो ऊपर लिखदिया है; अनित्य बतलाने वाले नीचे लिखे देते हैं :—

"अनादि पदार्थ तीन हैं—एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगतका कारण; इन्हींको नित्य भी कहते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।"

—सत्यार्थप्रकाश-स्वमन्तव्यामन्तव्य नियम नं० ६

यहां आकाश को स्वामीजी ने नित्य नहीं माना। अतः स्पष्ट है कि आकाश के नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में स्वामीजी का कथन भी विरोधात्मक है।

इसही प्रकार मुक्तिसम्बन्धमें भी वेदों में विरोधात्मक वर्णन मिलता है याने कुछ मन्त्र मुक्ति से लौटना बतलाते हैं और कुछ नहीं लौटने का समर्थन करते हैं; जैसा कि निम्नलिखित वेद मन्त्रों से स्पष्ट है :—

कस्यनूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम ।
को नोमह्या अदितयेपुनर्दात् पितरंच दृशेयं मातरंच ॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

—सत्यार्थप्रकाश संस्करण ६ पृष्ठ २५०

स्वामीजी का भाषार्थ—(प्रश्न) हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्यमें वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है हमको मुक्तिका सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता पिताका दर्शन कराता है ॥१॥ (उत्तर) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्तिमें आनन्द भुगाकर पृथ्वी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है ॥ २ ॥

इस मन्त्रमें स्पष्टतः मुक्तिसे लौटने का वर्णन है, क्योंकि उसही से लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न है तथा उसही से लौटने के सम्बन्ध में उत्तर ।

जिस प्रकार ये मन्त्र मुक्ति से लौटने का समर्थन करते है, उसही प्रकार नीचे लिखे जाने वाले मन्त्र न लौटने का :—

यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेहनाकं महिमानः सचन्तयत्रपूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः ॥

—ऋ० भा० भू० (वि० सं० १६३५) पृष्ठ १२६ मन्त्र १६

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेद-मंत्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें (तेहनाकं०) जो जो ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे वे सब दुःखों से छूट कर सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं (यत्रपूर्वे सा०) जहां विद्वान लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त हो के नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं क्योंकि उससे निवृत्त हो के संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

—ऋ० भा० भू० (वि० सं० १९३५) पृष्ठ १३२ मन्त्र १६

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सर्व जगत का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर-यामीरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है जो सब जगत को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है (तस्ययोनि०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और

सत्यविद्या है उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्हत०) जिसमें यह सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते हैं।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतोधियादिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सवितप्रसुवाति तान् ॥
—ऋ० भू० (वि० सं० १६३५) पृष्ठ १५६ मन्त्र ४

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है तथा (युक्त्वाय) वही अन्तरयामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और (सविता) जो सब जगत का पिता है वही (प्रसुवा) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तरयामी परमेश्वर मोक्ष सुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा।

सनो बन्धुर्जनिता सविधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृत मान शानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
—ऋ० भू० (वि० सं० १६३५) पृष्ठ १८८ ।

सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुख का नाश करने वाला सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों का पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्व से सहित होके **सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं।**

इन वेद-मंत्रों में स्पष्टरूप से बतलाया है कि उस मोक्ष से लौटकर संसार के दुःखों में कभी भी नहीं गिरते, मोक्ष के सुख को सदा सुख भी माना है जैसाकि पाठकों को पढ़ने से स्पष्ट होगया होगा। हम ने भी पाठकों के सुभीते के लिए उसे मोटे टाइप में करा दिया है। अतः स्पष्ट है कि वेदमन्त्र मुक्ति के सम्बन्ध में विरोधात्मक कथन करते हैं।

जिस प्रकार आकाश और मुक्ति के सम्बन्ध में वेदमंत्र विरोधात्मक वर्णन करते हैं उसही प्रकार हिंसा-विधान और मांसभक्षण के सम्बन्ध में भी। जिन वेदमन्त्रों का अर्थ स्वामीजी ने मांसभक्षण-समर्थन और हिंसाविधान किया है उनको हम आगाड़ी एक स्वतन्त्र प्रकरण में लिखेंगे। पाठक महाशय वहीं से देखलें। यहाँ हम उन वेदमन्त्रों को भी लिखे देते हैं जो कि उसके विरुद्ध कथन करते हैं—

यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र १ में सर्व प्राणियों की रक्षार्थ उपदेश दिया गया है तथा जब सब प्राणियों को रक्षार्थ वेद

में उपदेश है तव अहिंसा-समर्थन और मांस परित्याग का उपदेश देना तो स्वयं सिद्ध है, क्योंकि हिंसा और मांसभक्षण, विना प्राणियों के मारे हो नहीं सकते। अतः वेदों में हिंसा और मांसभक्षण के सम्बन्ध में विरोधात्मक वर्णन है, यह बात भी निःसन्देह मानने योग्य है। उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट है कि वेदों में परस्पर विरुद्ध कथन है। अतः इस दृष्टि से भी वे ईश्वरीय उपदेश नहीं हो सकते।

वेदों में ईश्वर की स्तुति का सद्भाव

जिनमें जिसकी स्तुति की जाती है वे उसके बनाये नहीं हो सकते, क्योंकि स्तोता की दृष्टिसे स्तुत्य अधिक गुण वाला होता है। यह बात कि नमस्कार करने वाले से नमस्कार किये जाना वाला अधिक गुणवान होता है असिद्ध नहीं, क्योंकि सर्व साधारण का व्यवहार इसका समर्थन करता है। शिष्य गुरू को नमस्कार करता है, सेवक मालिक को और भक्त ईश्वर को। यहां सब जगह नमस्कार करने वाले से नमस्कार किये जाने वाले में अधिक गुण हैं। वेदों में भी ईश्वर को नमस्कार किया गया है; अत स्पष्ट है कि वेद ईश्वरके अतिरिक्त अन्य आत्माओं के वनाये हुए हैं। यदि वेद ईश्वर के वनाये हुए होते तो उनमें ईश्वर को नमस्कार न किया गया होता, क्योंकि कोई अपने को ही नमस्कार नहीं करता। इसके अतिरिक्त जिन वेद-मन्त्रों में ईश्वरको नमस्कार किया है उनमें उसका ग्रहण मध्यमपुरुष और अन्य पुरुष से किया है, नकि उत्तम पुरुष से, यदि स्वयं ईश्वर

अपने को अपने आप नमस्कार करता तो यों कहता कि मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा, मुझे मेरा नमस्कार हो; नकि हे परमात्मन् तू ऐसा है, तू ऐसा, तेरे लिए हमारा नमस्कार हो। अतः स्पष्ट है कि वेद ईश्वरकृत नहीं, क्योंकि उनमें ईश्वर को नमस्कार किया गया है।

इसके सम्बन्धमें एक बात और भी विचारणीय है और वह यह है कि स्वयं स्वामी दयानन्दजी ने .कुरानशरीफ़ का खण्डन याने वह ईश्वर का बनाया नहीं है, इसही युक्ति के आधार पर किया है जैसाकि स्वामीजी के निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है :—

" 'आरंभ साथ नाम अल्लाह के क्षमा करने वाला दयालु'
—मंज़िल १ सिपारा १ सूरत १

समीक्षक—मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि यह .कुरान .खुदा का कहा है, परन्तु इस वचन से विदित होता है कि इसका बनाने वाला कोई दूसरा है, क्योंकि परमेश्वर का बनाया होता तो 'आरम्भ साथ नाम अल्लाह के' ऐसा न कहता, किन्तु 'आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्योंके' ऐसा कहता।"

—सत्यार्थप्रकाश संस्करण १६ वाँ अध्याय १४ पेज ३४५

आरम्भ साथ नाम अल्लाह के ऐसा कहना या उसको नमस्कार करना इसमें कोई अर्थ-भेद नहीं, उपर्युक्त प्रकार से कहना भी उसकी महत्ता को मानना है और उसको नमस्कार करना भी। जिस तरह .कुरानशरीफ़ के वाक्य .खुदा के नहीं

हो सकते, उसही प्रकार वेदों के भी। जिसके आधार पर दूसरे का खण्डन करना, उसको अपने में न मानना, यह कहां की बुद्धिमानी है। यह बात कि वेदों में ईश्वर को नमस्कार किया गया है, असिद्ध नहीं; क्योंकि निम्नलिखित वेदमन्त्र इस बात का समर्थन करते हैं —

योभूतं च भव्यं च सर्वंयश्चाधि तिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥ १ ॥
यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवयश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥
यस्य सूर्य्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्य१तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोभवन्।
दिशोयश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥ ४ ॥

(यो भूतं च) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्त्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है (सर्वंयश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही ज्ञाता रचता पालन लय कर्त्ता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। (स्व१-र्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है (तस्मै ज्येष्ठाय

ब्रह्मणेनमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार होय जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेश-मात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त होय ॥ १ ॥

(यस्यभूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थ-ज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है, तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्त-रिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है (दिवंयश्चक्रे मूर्द्धानं) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्य्यलोक पर्यन्त सब जगत को रचके उसमें व्यापक होके जगत के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार होय ॥ २ ॥

(यस्य सूर्य्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प कल्प के आदि में सूर्य्य और चन्द्रमादि पदार्थों को बारम्बार नये २ रचता है (अग्निंयश्चक्र आस्यं) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नम-स्कार होय ॥ ३ ॥

(यस्यवातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करने वाली किरण हैं वे चक्षु की नाईं जिसने की है अर्थात् उनसे ही रूपग्रहण होता है (दिशोयश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों के सिद्ध करने वाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार होय ॥ ४ ॥

—ऋ० भू० (वि० सं० १९३५) पृ० ४

वेदों में ईश्वर के अन्यपुरुष और सम्बोधन से ग्रहण कियेजाने का सद्भाव

जिस प्रकार वेदों में ईश्वर के नमस्कारात्मक मन्त्र मिलते हैं, उसही प्रकार ऐसे मन्त्र भी जिनमें उसको सम्बोधन से या अन्य पुरुष से ग्रहण किया है। जिस प्रकार जो ग्रन्थ जिसका बनाया होता है उसमें उसही को नमस्कार नहीं किया जाता, उसही प्रकार उसका अन्यपुरुष या सम्बोधनसे ग्रहण भी नहीं होता। यदि कोई किसी वाक्य को कहता है तो वह उसमें अपने लिए उत्तम पुरुष का और जिसके सम्बन्ध में कहे उसके लिए अन्य पुरुष का तथा जिसको लक्ष्य करके कहे उसके लिए उत्तम पुरुष का या सम्बोधन का प्रयोग करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्य में सम्बोधन या अन्यपुरुष का प्रयोग वक्ता के लिए नहीं होता। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट

है कि जिस वाक्य में जिसका ग्रहण सम्बोधन या अन्यपुरुष से किया गया हो वह उसका कर्ता नहीं। वेदों में ईश्वर का सम्बोधन या अन्य पुरुष से ग्रहण किया है; अतः ईश्वर उनका बनाने वाला नहीं। यह बात कि वेदों में ईश्वर का अन्य पुरुष या सम्बोधन से ग्रहण किया है असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्न-लिखित वेदमन्त्र, जिनमें ईश्वर को अन्यपुरुष से ग्रहण किया है, इस बात का समर्थन करते हैं :—

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषायवाम्॥ —यजु० अ० १ मन्त्र ६

पदार्थः—(कः) कौन (त्वा) तुझ को अच्छी २ क्रियाओं के सेवन करने के लिये (युनक्ति) आज्ञा देता है (सः) सो जगदीश्वर (त्वा) तुम को विद्या आदिक शुभगुणों के प्रकट करने के लिये विद्वान् वा विद्यार्थी होने को (युनक्ति) आज्ञा देता है (कस्मै) वह किस २ प्रयोजन के लिये (त्वा) मुझ और तुझ को (युनक्ति) युक्त करता है (तस्मै) पूर्वोक्त सत्यव्रत के आचरणरूप यज्ञ के लिये (त्वा) धर्म के प्रचार करने में उद्योगी को (युनक्ति) आज्ञा देता है (सः) वही ईश्वर (कर्मणे) उक्त श्रेष्ठ कर्म करने के लिये (वाम्) कर्म करने और कराने वालोंको नियुक्त करता है (वेषाय) शुभ गुणों और विद्याओं में व्याप्ति के लिये (वां) विद्या पढ़ने और पढ़ाने वाले तुम लोगों को उपदेश करता है॥ ६॥

शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि

प्रतित्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र १४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्यों तुम्हारा घर (शर्म) सुख देने वाला (असि) हो उस घर से (रक्षः) दुष्ट स्वभाव वाले प्राणी (अवधूतं) अलग करो और (अरातयः) दान आदि धर्मरहित शत्रु (अवधूताः) दूर हों उक्त गृह (अदित्याः) पृथिवी की (त्वक्) त्वचा के तुल्य (असि) हो (अदितिः) ज्ञान स्वरूप ईश्वर ही से उस घर को (प्रतिवेत्तु) सब मनुष्य जानें और प्राप्त हों तथा जो (वानस्पत्यः) वनस्पति के निमित्त से उत्पन्न होने (पृथुबुध्नः) अति विस्तारयुक्त अन्तरिक्ष में रहने तथा (ग्रावा) जल का ग्रहण करने वाला (अद्रिः) मेघ (असि) है उस और इस विद्या को (अदितिः) जगदीश्वर तुम्हारे लिये (वेत्तु) कृपा करके जनावें। विद्वान् पुरुष भी (अदित्याः) पृथिवी की (त्वक्) त्वचा के समान (त्वा) उक्त घर की रचना को (प्रतिवेत्तु) जाने ॥ १४ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । संवपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन संरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र २१

पदार्थः—हे मनुष्यों जैसे मैं (सवितुः) सकल ऐश्वर्य्य के देने वाले (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए प्रत्यक्ष संसार में वा सूर्य्यलोक के प्रकाश में (अश्विनोः)

सूर्य्य और भूमि के तेज़ की (बाहुभ्यां) दृढता से (पूष्णः) पुष्टी करने वाले वायु के (हस्ताभ्यां) प्राण और अपान से (त्वा) पूर्वोक्त तीन प्रकारके यज्ञ का (संवपामि) विस्तार करता हूँ वैसे ही तुम भी उसको विस्तारसे सिद्ध करो अथवा जैसे इस उत्पन्न किये हुए संसार में वा सूर्य्य के प्रकाश में (ओषधीभिः) यवादि ओषधियों से (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी (रसेन) आनन्दकारक रस से तथा (जगतीभिः) उत्तम ओषधियों से (रेवत्यः) उत्तम जल और जैसे (मधुमतीभिः) अत्यत मधुर रस युक्त ओषधियों से (मधुमतीः) अत्यन्त उत्तम रसरूप जल ये सब मिलकर वृद्धि-युक्त होते हैं वैसे हम सब लोगों को भी ओषधियों से जल और ओषधी उत्तम जल से तथा सब उत्तम ओषधियों से उत्तम रस युक्त जल तथा अत्युत्तम मधुर रस युक्त ओषधियों से प्रशंसनीय रस रूप जल इन सबों को यथा-योग्य परस्पर (सपृच्यतां) युक्ति से वैद्यक वा शिल्प की शास्त्र रीति से मेल करना चाहिये ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र २१

अदित्यैव्युन्दनमसि विष्णोस्तुपोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि। स्वासस्थान् देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानाम्पतये स्वाहा ॥ —यजु० अ० २ मन्त्र २

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (अदित्यै) पृथिवी के (व्युन्दनम्) विविध प्रकार के ओषधी आदि पदार्थों का सींचने वाला (असि) होता है इससे मैं उसका अनुष्ठान करता हूँ और (विष्णोः) इस यज्ञ की सिद्धि कराने हारा (स्तुपः) शिखा-

रूप (ऊर्णम्रदस) उलूखल (असि) है इससे मैं (त्वा) उस अन्नके छिलके दूर करने वाले पत्थर और उलूखल को (स्तृणामि) पदार्थों से ढांपता हूँ तथा वेदी (देवेभ्यः) विद्वान् और दिव्य सुखों के हित कराने के लिये (असि) होती है इससे उसको मैं (स्वासस्थां) ऐसी बनाता हूँ कि जिसमें होम किये हुए पदार्थ अच्छी प्रकार स्थिर हों और जिससे संसार का पतिभुवन अर्थात् लोकलोकान्तरों का पति संसारी पदार्थों का स्वामी और परमेश्वर प्रसन्न होता है तथा भौतिक अग्नि सुखों का सिद्ध कराने वाला होता है इस कारण (भुवपतये) (स्वाहा) (भुवनपतये) (स्वाहा) (भूतानांपतये) (स्वाहा) उक्त परमेश्वर की प्रसन्नता और आज्ञापालन के लिये उस वेदी के गुणों से जो कि सत्यभाषण अर्थात् अपने पदार्थों को मेरे हैं यह कहना वा श्रेष्ठ वाक्य आदि उत्तम वाणियुक्त वेद है उसके मन्त्रों के साथ स्वाहा शब्दका अनेक प्रकार उच्चारण करके यज्ञ आदि श्रेष्ठ कामों का विधान किया जाता है इस प्रयोजन के लिये भी वेदी को रचता हूँ ॥ —यजु० अ० २ मन्त्र २

वसोः पवित्र मसि शतधारं वसो पवित्र मसि सहस्रधारम् देवस्त्वा सवितापुनातु वसोः पवित्रेणशतधारेणसुप्वाकामधुक्ष

—यजु० अ० १ मन्त्र ३

पदार्थः—जो (वसोः) यज्ञ (शतधारं) असंख्यात संसार का धारण करने और (पवित्रं) शुद्धि करने वाला कर्म (असि) है तथा जो (वसोः) यज्ञ (सहस्रधार) अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने और (पवित्रं) शुद्धि का

निमित्त सुख देने वाला है (त्वा) उस यज्ञ को (देव) स्वयं प्रकाशस्वरूप (सविता) वसु आदि तेतीस देवों का उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर (पुनातु) पवित्र करे । हे जगदीश्वर आप हम लोगों से सेवित जो (वसोः) यज्ञ है उस (पवित्रेण) शुद्धि के निमित्त वेद के विज्ञान (शतधारेण) बहुत विद्याओं के धारण करने वाले वेद और (सुप्वा) अच्छी प्रकार पवित्र करने वाले यज्ञ से हम लोगों को पवित्र कीजिये । हे विद्वान् पुरुष वा जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य तू (काम्) वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से कौन कौन वाणी के अभिप्राय को (अधुक्षः) अपने मनमें पूरण करना अर्थात् जानना चाहता है । —यजु० अ० १ मन्त्र ३

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वाभाग सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यंरक्ष ॥
—यजु० अ० १ मन्त्र ४

पदार्थः—हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! आप जिस वाणी का धारण करते हैं (सा) वह (विश्वायुः) पूर्ण आयु की देने वाली (सा) वह जिससे कि (विश्वकर्मा) सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड सिद्ध होता है और (सा) वह (विश्वधायाः) सब जगत को विद्या और गुणों से धारण करने वाली है । पूर्व मंत्रमें जो प्रश्न है उसके उत्तर में यही तीन प्रकार की वाणी ग्रहण करने योग्य है इसी से मैं (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (भागम्) सेवा करने योग्य यज्ञ को (सोमेन) विद्या से सिद्ध किये रस अथवा आनन्द से (आतनच्मि) अपने हृदय

में दृढ़ करता हूँ तथा हे परमेश्वर! (इदयम्) पूर्वोक्त यज्ञ सम्बन्धि देने लेने योग्य द्रव्य वा विज्ञान की (रक्षक) निरन्तर रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र ४

अग्ने व्रतपतेव्रत चरिष्यामि तच्छकेयंतन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र ५

पदार्थः—हे (व्रतपते) सत्य भाषण आदि धर्मों के पालन करने और (अग्ने) सत्य उपदेश करने वाले परमेश्वर! मैं (अनृतात्) जो झूँठ से अलग (सत्यम्) वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टिक्रम विद्वानों का संग श्रेष्ठ विचार तथा आत्माकी शुद्धि आदि प्रकारों से जो निर्भ्रम, सर्वहित, तत्व अर्थात् सिद्धान्त के प्रकाश कराने हारों से सिद्ध हुआ, अच्छी प्रकार परीक्षा किया गया (व्रतम्) सत्य बोलना सत्य मानना और सत्य करना है उसका (उपैमि) अनुष्ठान् अर्थात् नियम से ग्रहण करने वा जानने और उसकी प्राप्ति की इच्छा करता हूँ (मे) मेरे (तत्) उस सत्य व्रत को आप (राध्यतां) अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिये जिससे कि (अहं) मैं उक्त सत्य व्रत के नियम करने को (शकेयम्) समर्थ होऊँ और मैं (इदम्) इसी प्रत्यक्ष सत्यव्रत के आचरण का नियम (चरिष्यामि) करूँगा। —यजु० अ० १ मन्त्र ५

धूरसि धूर्व धूर्वन्त धूर्व त योऽस्मान्धूर्वति त धूर्वयं वयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र ८

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आप (धूः) सब दोषों के नाश और जगत को रक्षा करने वाले (असि) है इस कारण हम लोग इष्ट बुद्धि से (देवानां) विद्वानों का विद्या मोक्ष और सुख में (वह्नितमं) यथायोग्य पहुंचाने (सस्नितमं) अतिशय करके शुद्ध करने (पप्रितमं) सब विद्या और आनन्द से संसार को पूर्ण करने (जुष्टतमं) धार्मिक भक्तजनों को सेवा करने योग्य और (देवहूतमं) विद्वानों को स्तुति करने योग्य आप की नित्य उपासना करते हैं (यः) जो कोई द्वेषी छली कपटी पापी काम क्रोधादियुक्त मनुष्य (अस्मान्) धर्मात्मा और सब को सुख से युक्त करने वाले हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देना है और (यं) जिस पापो जनको (वयं) हम लोग (धूर्वामः) दुःख देते हैं (तं) उसको आप (धूर्व) शिक्षा कीजिये तथा जो सब से द्रोह करने वा सबको दुःख देता है उसको भी आप सदैव (धूर्व) ताड़ना कीजिये। हे शिल्प विद्या को जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य तू जो भौतिक अग्नि (धूः) सब पदार्थों का छेदन और अन्धकार का नाश करने वाला (असि) है तथा जो कला चलाने की चतुराई से यानों में विद्वानों को (वह्नितमं) सुख पहुँचाने (सस्नितमं) शुद्धि होने का हेतु (पप्रितमं) शिल्प विद्या का मुख्य साधन (जुष्टतमं) कारीगर लोग जिसका सेवन करते हैं तथा जो (देवहूतमं) विद्वानों को स्तुति करने योग्य अग्नि है उसको (वयं) हम लोग (धूर्वामः) ताड़ते हैं और जिस

का सेवन युक्ति से न किया जाय तो (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) पीड़ा करता है (तं) उस (धूर्वन्त) पीडा करने वाले अग्नि को (धूर्व) यानादिकों में युक्त कर तथा हे वीरपुरुष ! तुम (यः) जो दुष्ट शत्रु (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है (तं) उसको (धूर्व) नष्ट कर तथा जो कोई चोर आदि है उसका भी (धूर्व) नाश कीजिये ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र ८

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमा मादं जहिनिष्क्रव्यादं सेधा देव यज वह । ध्रुवमसि पृथिवीं दृंहब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युप दधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र १७

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (धृष्टिः) प्रगल्भ अर्थात् अत्यन्त निर्भय (असि) हैं इस कारण (निष्क्रव्यादं) पके हुए भस्म आदि पदार्थों को छोड के (आमादं) कच्चे पदार्थ जलाने और (देवयज्ञं) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणों से मिलाप कराने वाले (अग्निं) भौतिक वा विद्युत् अर्थात् विजुलीरूप अग्नि का आप (सेध) सिद्ध कीजिये इस प्रकार हम लोगों के मङ्गल अर्थात् उत्तम २ सुख होने के लिये शास्त्रों की शिक्षा करके दुःखों को (अपजहि) दूर कीजिये और आनन्द को (आवह) प्राप्त कीजिये तथा हे परमेश्वर आप (ध्रुवं) निश्चल सुख देने वाले (असि) हैं इससे (पृथिवीं) विस्तृत भूमि वा उसमें रहने वाले मनुष्यों को (दृंह) उत्तम गुणों से वृद्धियुक्त कीजिये । हे (अग्ने) जगदीश्वर ! जिस

कारण आप अत्यन्त प्रशंसनीय हैं इससे मैं (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजात वनि) ब्राह्मण क्षत्रिय तथा प्राणिमात्र के सुख वा दुःख व्यवहार के देने वाले (त्वा) आपको (उप-दधामि) हृदय में स्थापन करता हूँ ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र १७

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षन्दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। धर्त्रमसि दिवन्दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामिचितस्थोर्ध्वचिताभृगूणा मंगिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ —यजु० १-१८

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (धरुणं) सब के धारण करने वाले (असि) हे इससे मेरी (ब्रह्म) वेद मन्त्रों से की हुई-स्तुति का (गृभ्णीष्व) ग्रहण कीजिये तथा (अन्तरिक्षं) आत्मा में स्थित जो अक्षय ज्ञान है उसको (दृंह) बढ़ाइये मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) सब मनुष्यों के सुख के निमित्त वेद के शाखा शाखान्तर द्वारा विभाग करने वाले ब्राह्मण तथा (क्षत्रवनि) राजधर्म के प्रकाश करने वाले (सजातवनि) जो परस्पर समान क्षत्रियों के धर्म और संसारी मूर्तिमान् पदार्थ है इन प्राणियों के लिये अलग २ प्रकाश करने वाले (त्वा) आपको (उपदधामि) हृदय के बीच में धारण करता हूँ। हे सबके धारण करने वाले परमेश्वर जो आप (धर्त्रम्) लोकों के

धारण करने वाले हैं इससे कृपा करके हम लोगों में (दिवं) अत्युत्तमज्ञान को (दृंह) बढ़ाइये और मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि)(सजातवनि) उक्त वेदराज्य वा परस्पर समान विद्या वा राज्यादि व्यवहारों को यथायोग्य विभाग करने वाले (त्वा) आप को (उपदधामि) वारम्वार अपने हृदय में धारण करता हूँ तथा मैं (त्वा) आप को सर्वव्यापक जानकर (विश्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) दिशाओं से सुख होने के निमित्त बारम्बार (उपदधामि) अपने मनमें धारण करता हूँ। हे मनुष्यों तुम लोग उक्त व्यवहार को अच्छी प्रकार जानकर (चित) विज्ञानी तथा (ऊर्ध्वचितः) उत्तम ज्ञान वाले पुरुषों की प्रेरणा से कपालों को अग्नि पर धरते तथा (भृगूणां) जिन के विद्या आदि गुणों को प्राप्त होते हैं ऐसे (अँगिरसां) प्राणों के (तपसा) प्रभाव से (तप्यध्वं) तपो और तपाओ ॥ —यजु० १—१८

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासंव्रजङ्गच्छ गोष्ठानंवर्षतु ते द्यौर्वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेनपाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक । अररो दिवं मा पप्तोद्रप्सस्ते द्यां मास्कन् व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक ॥ —यजु० १—२६

पदार्थः—हे (देव) सर्वानन्द के देने वाले जगदीश्वर (सवितः)सब प्राणियों में अन्तर्यामी सत्य प्रकाश करने हारे

आपकी कृपा से हम लोग परस्पर उपदेश करें। क॰ आर्य
सबका प्रकाश करने वाला सूर्य्य लोक और पृथिवी में अनेक
बन्धन के हेतु किरणों से खैंच कर पृथिवी आदि सब पदार्थों
को बांधता है वैसे तुम भी दुष्टों को बाँधकर अच्छे २ गुणों का
प्रकाश करो और जैसे मैं (पृथिव्यै) पृथिवी में (देव यज-
नात्) विद्वान् लोग जिस संग्राम से अच्छे २ पदार्थ वा
उत्तम २ विद्वानों की संगति को प्राप्त होते हैं उससे (अररुं)
दुष्ट स्वभाव वाले शत्रु जन को (अपबध्यासं) मारता हूँ वैसे
ही तुम लोग भी उसको मारो तथा जैसे मैं (व्रजं) उत्तम २
गुण जताने वाले सज्जनों के संग को प्राप्त होता हूँ वैसे तुम भी
उसको (गच्छ) प्राप्त हो जैसे मैं (गोष्ठानं) पठन पाठन व्य-
वहार की बताने वाली मेघ की गर्जना के समतुल्य वेद वाणी
को अच्छे २ शब्दरूपी बूँदों से वर्षाता हूँ वैसे तुम भी (वर्षतु)
वर्षाओ जैसे मेरी विद्या की (द्यौः) शोभा सब को दृष्टिगोचर
है वैसे (ते) तुम्हारी भी विद्या सुशोभित हो जैसे मैं (यः)
जो मूर्ख (अस्मान्) विद्या का प्रचार करने वाले हम लोगों
से (द्वेष्टि) विरोध करता है (च) और (यं) जिस विद्या
विरोधी जन को (वयं) विद्वान् हम लोग (द्विष्मः) दुष्ट
समझते हैं (तं) उस (परं) विद्याके शत्रु को (अस्यां) इस
सब पदार्थों की धारणा करने और (पृथिव्यां) विविध सुख
देने वाली पृथिवी में (शतेन) बहुत से (पाशैः) बन्धनों से
नित्य बाँधता हूँ कभी उससे उसको नहीं त्यागता वैसे हे वीर

लोगों तुम भी उसको (बधान) बाँधो कभी उसको (अतः) उस बन्धन से (मामौक्) मत छोडो और जो दुष्ट जन हम लोगों से विरोध करें तथा जिस दुष्ट से हम लोग विरोध करें उसको उस बन्धन से कोई मनुष्य न छोड़े इस प्रकार सब लोग उसको उपदेश करते रहें कि हे (अररा) दुष्ट पुरुष तू (दिवं) प्रकाश उन्नति को (मापप्त) मत प्राप्त हो तथा (ते) तेरा (द्रप्स) आनन्द देने वाला विद्यारूपी रस (द्यां) आनन्द को (मास्कन्) मत प्राप्त करे। हे श्रेष्ठों के मार्ग चाहने वाले मनुष्यो जैसे मैं (ब्रजं) विद्वानों के प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ मार्ग को प्राप्त होता हूँ वैसे तुम भी (गच्छा) उसको प्राप्त हो जैसे यह (द्यौः) सूर्य्य का प्रकाश (गोष्ठान) पृथिवी का स्थान अन्तरिक्ष को सींचता है वैसे ही ईश्वर वा विद्वान् पुरुष तुम्हारी कामनाओं का (वर्षतु) वर्षावें अर्थात् क्रम से पूरी करें। जैसे यह (देवः) व्यवहार का हेतु (सवित) सूर्य्यलोक (अस्यां) इस बीज बोने योग्य (पृथिव्यां) बहुत प्रजायुक्त पृथिवी में (शतेन) अनेक (पाशैः) बन्धन के हेतु किरणों से आकर्षण के साथ पृथिवी आदि सब पदार्थों को बांधता है वैसे तुम भी दुष्टों को बांधो और (यः) जो न्याय विरोधी (अस्मान्) न्यायाधीश हम लोगों से (द्वेष्टि) कोप करता है (च) और (यं) अन्यायकारी जन पर (वय) सम्पूर्ण हित सम्पादन करने वाले हम लोग (द्विष्मः) कोप करते हैं (तम्) उस (परं) शत्रु को (अस्यां) इस (पृथिव्यां) उक्त गुण वाली

पृथिवीमें (शतेन) अनेक (पाशैः) साम दाम दण्ड और भेद आदि उद्योगों से बांधता हूँ और जैसे मैं उसको उस दण्ड से बाँध कर कभी नहीं छोड़ता वैसे ही तुम भी (बधान) बाँधो अर्थात् बन्धनरूप दण्ड सदा दो। कभी उस को (मामौक्) मत छोडो ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र २६

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोसि ॥

—यजु० अ० १ मन्त्र २८

पदार्थः—हे (विरप्शिन्) महाशय महा गुणवान् जगदीश्वर! आपने (यां) जिस (स्वधाभिः) अन्न आदिपदार्थों से युक्त और (जीवदानुम्) प्राणियों को जीव देने वाले पदार्थ तथा (पृथिवीम्) बहुतसी प्रजा युक्त पृथिवी को (उदादाय) ऊपर उठाकर (चन्द्रमसि) चन्द्रलोक के समीप स्थापन की है इस कारण उस पृथिवी को (धीरासः) धीर बुद्धि वाले पुरुष प्राप्त होकर आपके अनुकूल चलकर यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करते हैं जैसे (चन्द्रमसि) आनन्द में वर्तमान होकर (धीरासः) बुद्धिमान पुरुष (यां) जिस (जीवदानुं) जीवों की हितकारक (पृथिवीं) पृथिवी के आश्रित होकर सेना और शस्त्रों को (उदादाय) क्रम से लेकर (विसृपः) जो कि युद्ध करने वाले पुरुषों के प्रभाव दिखाने योग्य और (क्रूरस्य) शत्रुओं के अङ्ग विदीर्ण करने वाले संग्राम के बीच

में शत्रुओं को जीतकर राज्य को प्राप्त होते हैं तथा जैसे इस उक्त प्रकार से धीर पुरुष (पुरा) पहिले समय में प्राप्त हुए जिन क्रियाओं से (प्रोक्षणीः) अच्छी प्रकार पदार्थों को सींच के उनको सम्पादन करते हैं वैसे ही हे (विरप्शिन्) महा ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुष तू भी उसको प्राप्त होके ईश्वर का पूजन तथा पदार्थसिद्धि करने वाली उत्तम २ क्रियाओं का सम्पादन कर जैसे (द्विषतः) शत्रुओं का (बधः) नाश (असि) हो वैसे कामों को करके नित्य आनन्द में वर्त्तमान रह ॥ —यजु० अ० १ मन्त्र २८ ॥

अदित्यैरास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्जेत्वादब्धेन त्वाचक्षुषा व पश्यामि । अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे। —यजु० अ० १ मन्त्र ३०

पदार्थः—हे जगदीश्वर जो आप (अदित्यै) पृथिवी के (रास्ना) रस आदि पदार्थों के उत्पन्न करने वाले (असि) हैं (विष्णोः) (असि) व्यापक (वेष्पः) पृथिवी आदि सब पदार्थों में प्रवर्तमान भी (असि) हैं तथा (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (जिह्वा) जीभरूप (असि) हैं वा (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (धाम्नेधाम्ने) जिनमें कि वे विद्वान् सुखरूप पदार्थों को प्राप्त होते हैं जो तीनों धाम अर्थात् स्थान नाम और जन्म हैं उन धर्मों की प्राप्ति के तथा (यजुषे) (यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ का आशय प्रकाशित होने के लिये (सुहूः) जो श्रेष्ठता से स्तुति करने के योग्य हैं इस प्रकार के (त्वा) आपको मैं

(अदब्धेन) प्रेम सुख युक्त (चक्षुषा) विज्ञान से (ऊर्ज्जे) पराक्रम (अदित्यै) पृथिवी तथा (देवेभ्यः) श्रेष्ठ गुणों वा (धाम्ने धाम्ने) स्थान नाम और जन्म आदि पदार्थों की प्राप्ति तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ के आशय जानने के लिये (अवपश्यामि) ज्ञानरूपी नेत्रों से देखता हूँ आप भी कृपा करके मुझको विदित और मेरे पूजन को प्राप्त (भव) हूजिये ॥

—यजु० अ० १ मन्त्र ३०

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥

—यजु० अ० ४ मन्त्र १९

पदार्थः—हे जगदीश्वर (सत्यसवसः) सत्यैश्वर्य युक्त (ते) आपके (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में जो (चित्) विद्या व्यवहार को चिताने वाली (असि) है जो (मनाः) ज्ञान साधन कराने हारी (असि) है जो (धीः) प्रज्ञा और कर्म को प्राप्त करने वाली (असि) है (दक्षिणा) विज्ञान विजय को प्राप्त करने (क्षत्रिया) राज्य के पुत्र के समान वर्त्तने हारी (असि) है जो (यज्ञिया) यज्ञ को कराने योग्य (असि) है जो (उभयतः शीर्ष्णी) दोनों प्रकार से शिर के समान उत्तम गुण युक्त और (अदितिः) नाश रहित वाणी वा बिजली (असि) है वह (नः) हम लोगों के लिये (सुप्राची) पूर्वकाल और (सुप्रतीची) पश्चिम काल में सुख देने हारी

(पथि) हो जो (पूषा) पुष्टि करने हारा (मित्र) सब का मित्र होकर मनुष्यपन के लिये उस वाणी और बिजली को (पद्वि) प्राप्ति योग्य उत्तम व्यवहार में (अध्यक्षाय) अच्छे प्रकार व्यवहार को देखने (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य वाले परमात्मा अध्यक्ष और श्रेष्ठ व्यवहार के लिये (बध्नीताम्) बन्धन युक्त करे सो आप (अध्वनः) व्यवहार और परमार्थ की सिद्धि करने वाले मार्ग के मध्य में (नः) हम लोगों की निरन्तर (पातु) रक्षा कीजिये। —यजु० अ० ४ मन्त्र १६

वेदों में पुनरुक्तता का सद्भाव

जिस प्रकार कथन के अन्य दूषण है उसही प्रकार पुनरुक्त भी, याने यदि एक ही बात को दोबार कहा जाय तो वहां पुनरुक्त नाम का दोष आता है। एक ही बात के दो बार उस ही रूपमें कथन करने से कोई लाभ नहीं; अतः विद्वानों ने इस को दूषण माना है। यह दूषण कथन में कहने वाले की अज्ञानता या प्रमादीपन से आता है। यदि कोई व्यक्ति अपने पूर्व कथन को नहीं याद रखता या आलस्य कर जाता है तब ही वह उस कथन को दोहराता है। कहने वाले की अज्ञानता का अर्थ उस विषय के ज्ञान का अभाव और ज्ञान की कमी, ये दोनों हो सकते हैं। देखा जाता है कि जब नवशिक्षित बालक व्याख्यान देता है तो वह अपने ज्ञान की कमी के कारण ही एक विषय को कई दफा वर्णन कर जाता है। जहां ये बातें याने अज्ञानता और प्रमादीपन नहीं हैं वहां कथन में पुनरुक्त नाम

के दोष का भी अस्तित्व नहीं रहता। ईश्वर को वादि ने इन दोनों दोषों से रहित माना है, अतः यदि वेद ईश्वर के उपदेश स्वरूप हैं तो इनमें भी इस दोष का अभाव होना चाहिये, किन्तु वेदों में इस दोष का अस्तित्व मिलता है। अतः यह ज्ञानी एवं आलस्य रहित ईश्वर के उपदेश नहीं हो सके। यह बात कि वेदों में भी इस दोष का सद्भाव है असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेदमन्त्र इस बातका समर्थन करते हैं :—

यजुर्वेद अध्याय ३१ के जितने मन्त्र हैं वे सब ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त ६० में मौजूद हैं। इस ही प्रकार ये मन्त्र अथर्ववेद और सामवेदमें भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद अध्याय २३ का नौवाँ मन्त्र उस ही अध्याय के पैंतालीसवें नम्बर पर, दसवां मन्त्र छयालीसवें नम्बर पर, ग्यारहवाँ मन्त्र तरेपनवें नम्बर पर और बारहवाँ मन्त्र चौवनवें नम्बर पर मिलते हैं। इन मन्त्रों के अतिरिक्त सैकड़ों वेद मन्त्र इस प्रकार के हैं जोकि एक से अधिक वेदों में मिलते हैं, किन्तु पुस्तक के बढ़जाने के भय से उनको यहां नहीं लिखा गया।

यह तो हुआ शाब्दिक दृष्टि से पुनरुक्त। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी वेदों में पुनरुक्त नामका दूषण आता है, जैसाकि निम्नलिखित वेद-मन्त्रों से स्पष्ट है :—

यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र ७ मे बतलाया गया है कि ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इस बात का वर्णन अथर्ववेद का १० प्रपा० २३ अनुवाक

४ मन्त्र २० में मिलता है। ये दोनो मन्त्र हम पूर्व ही याने इस पुस्तक के द्वारा आर्यसमाजी-प्रकरण के प्रारम्भमे ही लिख चुके है। अतः पाठक इन मन्त्रो को वहां से देखलें। वहाँ इन मन्त्रों का स्वामीजी का भावार्थ भी लिख दिया है। इस ही प्रकार का कथन वेदों में अनेक जगह मिलता है जिसको हम एक स्वतन्त्र पुस्तक द्वारा अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित करेंगे। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वेदों में शाब्दिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से पुनरुक्त नामका दूषण मिलता है, अतः इस दृष्टि से भी वेद ईश्वरकृत नहीं।

वेदोंमें इतिहास, मांसभक्षण विधान, अश्लील-कथन, हिंसाविधान और व्यर्थ प्रार्थनायें एवं भावनाओं का सद्भाव

जिस प्रकार वेदों में उपर्युक्त बातें मिलती हैं उस ही प्रकार इतिहास, मांसभक्षण विधान, अश्लीलकथन, हिंसा-विधान और व्यर्थ-प्रार्थना और भावनाओं का भी सद्भाव है। इतिहास यह शब्द इति, इह, और आस, इन शब्दों से मिलकर बना है। इह का अर्थ यहाँ, इति का इस प्रकार और आसका हुआ है अतः इतिहास शब्द का अर्थ यहाँ इस प्रकार हुआ है, है। दूसरे शब्दों में इसको इतिवृत्त भी कह सकते हैं। जिस पुस्तक में जिसका इतिहास भूतदृष्टि से होता है उस पुस्तक की रचना उसके पश्चात् होती है यह सर्वमान्य

बात है। स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने इस ही बात के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों को ईश्वरोक्त मानने से इनकार किया है। स्वामी जी ने फ़र्माया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास है अतः वे उन व्यक्तियों के, जिनके इतिहास उनमें मिलते हैं, बाद के बने हुए हैं। स्वामी जी की इसही युक्ति को प्रमाण मानकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेद भी, उन व्यक्तियों के पश्चात् बने हैं जिनके इतिहास इनमें मिलते हैं। यद्यपि स्वामी जी ने बहुत प्रयत्न किया कि वे उन सब नामों को, जो कि व्यक्ति विशेष के वाचक हैं और जिनसे कि वेदों में इतिहास प्रमाणित होता है, योगज शब्द बनादें किन्तु फिर भी वे इतिहास को वेदों में से नहीं हटा सके। इस विषय में प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित मन्त्र लिया जा सकता है :—

सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत।

—यजुर्वेद अ० १२ मन्त्र ४

भावार्थ—हे विद्वन् जिससे आपका तीन कर्म्म उपासना और ज्ञानों से युक्त दुःखों का जिससे नाश हो गायत्री छन्द से कहे विज्ञानरूप अर्थ नेत्र वृहद्रथन्तरे बड़े २ रथों के सहाय से दुखों को छुड़ाने वाले इधर उधर के अवयव स्तुति के योग्य ऋग्वेद अपना स्वरूप उष्णिक् आदि छन्द कान आदि

देव ऋषि के बाद ही हुआ था। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि यजुर्वेद की रचना भी सृष्टि की आदि में हुई थी फिर इसको इसही के आधार पर ईश्वरकृत नहीं माना जासकता। हमारे कुछ आर्यसमाजी भाई वामदेव का अर्थ ऋषिविशेष कर वेदों में इतिहास के अभाव करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उनकी यह चेष्टा सफल नहीं हो सकती। यदि मान भी लिया जाय कि वामदेव का अर्थ ऋषिविशेष है तब भी इस ही शब्द के आधार पर इतिहास मानना हो पड़ता है, क्योंकि यजुर्वेद के इस मन्त्र को उस ऋषि के बाद ही बना मानना पड़ेगा जिसने कि ऋग्वेदादिक को जाना था। यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में आये वामदेव का अर्थ चाहे व्यक्तिविशेष करें या ऋषिविशेष किन्तु वेदों में इतिहास का अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में इतिहास मानना ही पड़ता है।

यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र १६ में मच्छियों से जीवन व्यतीत करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना की गई है। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि वेदों से माँसभक्षण का समर्थन भी मिलता है। हमारा उपर्युक्त आशय स्पष्ट हो जाय एतदर्थ हम यहां इस मन्त्र को और उसके स्वामी जी के भाषार्थ को भी उद्धृत किये देते है :—

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो वैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं पाराय मार्गारमवाराय केवर्तं तीर्थेभ्य

आन्दं विषमेभ्यो मैनालं स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातं सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किंपुरुषम् । —यजु० अ० ३० मन्त्र १६

हे जगदीश्वर वा राजन् ! आप बड़े नालाओं के लिये धीमर के लड़कों को समीपस्थ निकृष्ट क्रियाओं के अर्थ जिसको दिया जाय उस सेवक को छोटे छोटे जलाशयों के प्रबन्ध के लिये निषाद के अपत्य को नरसल वाली भूमि के लिये मच्छियों से जीवने वाले को और विकट देशों के लिये कामदेव को रोकने वाले को अपनी ओर आगे के लिये जल में नौका को इस पार उस पार पहुँचाने वाले को तरने के साधनों के लिये बाँधने वाले को उत्पन्न कीजिये । हरिण आदि की चेष्टा को समाप्त करने को प्रवृत्त हुये व्याध के पुत्र को शब्दों के लिये रक्षा करने में निन्दित भील को गुहाओं के अर्थ वहेलिये को शिखरों पर रहने के लिये प्रवृत्त हुये नाश करने वाले को और पहाड़ों से खोटे जंगली मनुष्य को दूर कीजिये ।

यजुर्वेद अध्याय २८ मन्त्र ३२ में के भावार्थ में स्वाजीजी महाराज फ़र्माते है कि हे मनुष्यो ! जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं का बढ़ाता है वैसे गृहस्थ लोग स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजा को बढ़ावें ।

अन्य भी अनेक मन्त्र वेदों में उपर्युक्त प्रकार के मिलते है किन्तु देगची के एक चावल की भाँति एक मन्त्र देना पर्याप्त समझ कर अन्य मन्त्रों का उल्लेख यहाँ नहीं किया । ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि वेदों में अश्लील कथन भी मिलता है ।

जहाँ मांसभक्षण का समर्थन है वहां हिंसा के विधान का समर्थन तो स्वयंसिद्ध है क्योंकि बिना हिंसा के मांस-भक्षण हो नहीं सकता। मांसभक्षण और हिंसा में तो व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है यानी मांसभक्षण व्याप्य है और हिंसा व्यापक है। मांसभक्षण को छोड़ कर तो हिंसा रह सकती है, क्योंकि अनेक जीव जीवों की हिंसा करते हैं किन्तु वे उनका मांसभक्षण नहीं करते किन्तु मांसभक्षण बिना हिंसा के नहीं हो सकता। अतः वेदों में मांसभक्षणसमर्थन से हिंसा का समर्थन तो स्वयंसिद्ध है।

आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि ईश्वर कर्मों के अनुसार ही फल देता है। जिसके जैसे कर्म होते हैं उसको वैसा ही फल मिलता है। कर्मों के प्रतिकूल फल देने की ईश्वर में शक्ति ही नहीं। इसही सिद्धान्त के अनुसार स्वामीजी को मानना पड़ा कि ईश्वर से शत्रु के नाशादि की प्रार्थना करना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो कर्मों के अनुसार ही फल देगा न कि प्रार्थनामात्र से। यदि ईश्वर प्रार्थनामात्रसे फल देता होता तो उभयपक्षसे एक दूसरे के नाशार्थ तथा स्वरक्षार्थ प्रार्थनाओं के सद्भाव पर ईश्वर की क्या विचित्र दशा होती। अतः ऐसी प्रार्थनायें ईश्वर से न करनी चाहियें, क्योंकि वे बेकार हैं। हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन स्वामी जी के निम्नलिखित वाक्यों से होता है:—

"ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर

उसको स्वीकार करता है कि जैसे—हे परमेश्वर ! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सब से बडा, मेरे ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जाँय इत्यादि क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करदे ? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल होजावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते २ कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मेरे मकान में झाडू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती वाड़ी भी कीजिये"।

—सत्यार्थप्रकाश संस्करण १६ वाँ अ० ७ पृ० ११७

जब ईश्वर ही प्रार्थनामात्र से कुछ नहीं कर सकता तब अन्य तो क्या कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रकार की प्रार्थनायें, चाहे वे ईश्वर से की गई हैं अथवा अन्य आत्माओं से, बेकार हैं। जब कि उपर्युक्त प्रकार की प्रार्थनायें बेकार हैं तब उनका उपदेश ईश्वर नहीं कर सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, जगत् की सम्पूर्ण चराचर वस्तुओं को जानता है, साथही उस में राग और द्वेषका भी अभाव है, ऐसी अवस्था होने के कारण वह उपर्युक्त प्रकारकी व्यर्थ प्रार्थनाओंका उपदेश नहीं देसकता। इसही को दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि जिस पुस्तक में ऐसी प्रार्थनायें हैं वह ईश्वरकृत नहीं। ऐसी प्रार्थनायें वेदों में मिलती हैं अतः स्पष्ट है कि वेद ईश्वरकृत नहीं।

यह बात कि वेदों में उपर्युक्त प्रकार की प्रार्थनायें हैं असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेदमन्त्र इस बात का समर्थन करते हैं :—

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथे चित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नाऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥

—यजुर्वेद अ० १५ मन्त्र १६

हे मनुष्या जैसे यह सब चेष्टारूप कर्मों का हेतु वायु दक्षिण दिशा से चलता है उस वायु के रथ के शब्द के समान शब्दवाला और रमणीय रथ में चिह्नयुक्त आश्चर्य कार्यों का करने वाला ये दोनों सेनापति और ग्रामाध्यक्ष के समान वर्त्तमान जिससे मनन किया जाय वह और एक साथ उत्पन्न हुई ये दोनों अन्तरिक्ष में रहने वाली किरणादि अप्सरा हैं जो प्रजा को पीड़ा देने वाले हैं उनके ऊपर वज्र जो दुष्टकर्म करने वाले है उनके ऊपर प्रकृष्ट वज्र के तुल्य उन प्रजापीडक आदि के लिये वज्रका प्रहार हो ऐसा करके जो न्यायाधीश शिक्षक हैं वे हमारी रक्षा करें। वे हमको सुखी करें वे हमलोग जिस दुष्ट से द्वेष करें और जो दुष्ट हमसे द्वेष करें उस को इन वायुओं के व्याघ्र के समान मुख में धारण करते हैं वैसा प्रयत्न करो।

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ। व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।

—यजुर्वेद अ० १५ मन्त्र १७

हे मनुष्यो जैसे यह पीछे से विश्व में व्याप्त बिजुलीरूप अग्नि है उसके सेनापति और ग्रामपति के समान रमणीय तेजस्वरूप में व्याप्त और जिसके समान दूसरा रथ न हो वह ये दोनों अच्छे प्रकार सब ओषधि आदि पदार्थों को शुष्क कराने वाली तथा पश्चात् ज्ञान का हेतु प्रकाश ये दोनों क्रिया-कारक आकाशस्थ किरण है जैसे साधारण वज्र के तुल्य तथा उत्तम वज्र के समान सिंहों के तथा सर्पों के समान प्राणियों को दुःखदायी जीव है उनके लिए वज्रप्रहार हो और जो इन पूर्वोक्तों से रक्षा करें वे हमारे रक्षक हों वे हमको सुखी करें तथा वे हमलोग जिससे द्वेष करें और जो दुष्ट हमसे द्वेष करें जिसको हम इन सिंहादि के मुखमें धरें उसको वे रक्षक भी सिंहादि के मुखमें धरें।

अथ पुरो हरिकेशः सूर्य्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ। दंदणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नो अवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।

—यजुर्वेद अ० १५ मन्त्र १५

जो यह पूर्वकाल में वर्तमान हरितवर्ण केश के समान हरणशील और क्लेशकारी ताप से युक्त सूर्य किरणें हैं उनका बुद्धिमान सारथि और रथ के ले चलने के वाहन इन दोनों के तथा सेनापति और ग्राम के अध्यक्ष के समान अन्य प्रकार के भी किरण होते हैं। उन किरणों की सामान्य प्रधान दिशा और प्रज्ञा कर्म को जताने वाली उपदिशा ये दोनों प्राणों में चलने वाली अप्सरा कहाती हैं जो मांस और घास आदि पदार्थों को खाने वाले व्याघ्र आदि हानिकारक पशु हैं उनके ऊपर बिजुली गिरे। जो पुरुषों के समूह मारने वाले और उत्तम वज के तुल्य नाश करने वाले हैं उनके लिये वज्र का प्रहार हो और जो धार्मिक राजा आदि सभ्य पुरुष हैं वे उन पशुओं से हमारी रक्षा करें, हमको सुखी करें वे रक्षक हम लोग जिन हिंसक से विरोध करें जो हिंसक हमसे विरोध करें उसको हम लोग इन व्याघ्रादि पशुओं के मुख में स्थापन करें।

इन मन्त्रों में "उनके ऊपर बिजुली गिरे, उन पशुओं से हमारी रक्षा करें, व्याघ्रादि पशुओं के मुख में स्थापन करें और उनको रक्षक भी सिंहादि के मुख में धरें आदि प्रार्थना या भावनास्वरूप कथन मिलता है। इस प्रकार के कथन समीचीन कथन नहीं हो सकते। यदि सत्य होते तो आज संसार में कोई दुष्ट व्यक्ति ही नज़र न आता, क्योंकि उस को भी सिंहादि के मुख में रख दिया गया होता। यह बात कि

ईश्वर भावना या प्रार्थनामात्र से फल नहीं देता पूर्व ही समर्थित हो चुकी है अत इस प्रकार के कथन सर्वज्ञ भगवान नहीं कर सकता, क्योंकि ये वेकार हैं। ये कथन वेदों में मिलते हैं, यह स्पष्ट ही है। ऐसी अवस्था में जब कि वेदों में इतिहास, मांसभक्षणसमर्थन, अश्लीलकथन, हिंसाविधान और व्यर्थ प्रार्थना और भावनाओं का सद्भाव वेदों में मिलते हैं, तो इनको ईश्वरकृत किस तरह माना जासकता है। जो ईश्वरकृत होगा वह तो उच्चादर्श एवं प्राणीमात्र की हितकर बातों से परिपूर्ण और समीचीन उपदेशयुक्त ही होगा अतः स्पष्ट है कि वेद इन बातों के आधार से भी ईश्वरकृत नहीं।

वेदों में सम्बन्ध अभिधेय और शक्यानुष्ठानेष्ट प्रयोजन का अभाव

सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि भवन्ति अर्थात् सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठानेष्ट प्रयोजन वाले शास्त्र होते हैं। सम्बन्ध से तात्पर्य वाच्य वाचक सम्बन्ध से है। वाच्य अभिधेय है और वाचक शास्त्र। जिस बात का वर्णन कर रहे हैं उसके सिलसिलेवार कथन को भी सम्बन्ध से ग्रहण कर सकते हैं। अभिधेय से तात्पर्य उस विषय से है जिसका कथन कि शास्त्र में किया जाता है। शक्यानुष्टानेष्ट प्रयोजन से तात्पर्य उस प्रयोजन से है जो कि इष्ट याने हितकर है और जिसको प्राप्त भी किया जासकता है। यदि तीनों बातों में से एक का भी अभाव हो जाय तो

उस शास्त्र में से ग्राह्यता भी विदा हो जाती है। "दशदाडिमादि" यह वाक्य है, किन्तु इसमें अभिधेय का अभाव है, याने इसका कोई अर्थ नहीं, अतः यह ग्रहण करने योग्य नही है। इस ही प्रकार "काक के कितने दाँत हैं" यह भी वाक्य है तथा यहां सम्बन्ध और अभिधेय दोनों है किन्तु यहाँ प्रयाजन का अभाव है अनः यह भी ग्रहण करने के योग्य नहीं। अत जहाँ पर इन तीनों बातों का सद्भाव है वहीं उपादेयता है। इसी बात को वर्णन करते हुए मीमांसाश्लोकवार्तिककार तार्किक कुमारिलभट्ट ने निम्नलिखित कारिकायें लिखी हैं:—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥
सर्वस्यैव शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम्॥

अर्थात्—जिसका प्रयोजन और सम्बन्ध सिद्ध है उसको सुनने वाला सुनता है अतः शास्त्र की आदि में प्रयोजन सहित सम्बन्ध बतलाना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रों का या किसी कर्म का जब तक प्रयोजन नहीं बतलाया जाता तब तक कोई उसको ग्रहण नहीं करता।

महर्षिकणादकृत वैशेषिकदर्शन के भाष्यकार ने भी इसही मत की पुष्टि की है जैसाकि वैशेषिकभाष्य के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है—सर्वं वै प्राणभृतां व्यवहाराः प्रयोजनाश्रयाः। नान्तरेण प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्ती। पश्वादयोऽप्य·

को ध्यान में रखकर शास्त्रों को प्रथम इन तीन बातों से परि-पूर्ण बतलाने को चेष्टा की । जो लोग वेदों को ईश्वरीयज्ञान या उसका उपदेश मानते हैं उनका कथन है कि संसारी जीवों के कल्याणार्थ ईश्वर ने इन चार वेदों को चार ऋषियों को दिया था । इस कथन से यह नतीजा निकलता है कि इनमें भी —यदि ये ईश्वरीय वाक्य हैं तो—सम्बन्धादिक तीनों बातों का सद्भाव होना चाहिये, क्योंकि इसके विना ये प्राणियों के हितकारक साबित नहीं होसकते और जब ये प्राणियों के हितकारक प्रमाणित न होंगे तो इनको ईश्वरीय वाक्य नहीं माना जासकता । किन्तु ये तीनों बातें समष्टि और व्यष्टिरूप से कहीं कहीं वेदों में नहीं मिलतीं, याने वेदों में सम्बन्ध का अभाव है, अभिधेय का अभाव है और उक्त प्रयोजन का भी अभाव है । यह बात कि वेद में सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठानेष्ट प्रयोजन का अभाव है असिद्ध नहीं, क्योंकि निम्नलिखित वेदमंत्र इस बातका समर्थन करेंगे ।

सम्बन्ध के वाच्यवाचक सम्बन्ध और सिलसिलेवार कथन ये दो अर्थ किये थे तथा ये दोनों अर्थ तब ही ठीक बैठ सकते हैं जबकि पुस्तक में सर्वत्र अभिधेय का सद्भाव हो । यदि अभिधेय का ही अभाव होगा तो क्या तो वाच्यवाचक सम्बन्ध बनेगा और क्या सिलसिलेवार कथन । वाच्यवाचक सम्बन्ध तो वहीं होगा जहाँ कि वाच्य है, क्योंकि पुस्तक जो वाचक कहलाती है वह वाच्य के अस्तित्व के कारण ही । जब वाच्य ही

न होगा तो पुस्तक वाचक किस प्रकार ठहर सकती है इसही प्रकार सिलसिलेवार कथन भी वाच्य के अस्तित्व से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि सिलसिलेवार कथन भी वहीं होगा जहांकि वाच्य याने अभिधेय है। यदि अभिधेय ही नहीं होगा तो सिल-सिलेवार कथन किसका? उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जहां अभिधेय का अभाव है वहां दोनों प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह सकता, जिस प्रकार अभिधेय के अभाव में सम्बन्ध नहीं रह सकता उसही प्रकार प्रयोजन भी। जहां अर्थ ही नहीं वहां प्रयोजनज्ञान कैसा? प्रयोजनज्ञान कराने के कारण ही शास्त्रों का प्रयोजन वाला माना है और यह बात अभिधेय के अभाव में ठीक बैठती नहीं। वेदों में अभिधेय का अभाव ही उस में सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का अभाव प्रमाणित करेगा अतः हम यहां कुछ वेदमन्त्रों को अभिधेय के अभावसमर्थन को देते है :—

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सरस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधारामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्यां सौर्य्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्य श्वेतः पुच्छ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः।

—यजु० अध्याय २४ मन्त्र १

हे मनुष्यो! तुम जो शीघ्र चलने हारा घोड़ा, हिंसा करने वाला पशु और गौ के समान वर्तमान नील गाय है वे

प्रजा पालक सूर्य देवता वाले अर्थात् सूर्य मण्डल के गुणों से युक्त जिसकी काली गर्दन वह पशु अग्नि देवता वाला प्रथम से ललाट के निमित्त मेढ़ी सरस्वती देवता वाली नीचे से ठोड़ी वामदक्षिण भागों के और भुजाओं के निमित्त नीचे रमण करने वाले जिनका अश्वि देवता वे पशु सोम और पूसा देवता वाला काले रङ्ग से युक्त पशु तुन्दी के निमित्त और बांई दाहिनी ओर के नियम सुफ़ेद रंग और काला रंग वाला और सूर्य व यम सम्बन्धि पशु वा पैरों को गाठियां के पास के भागों के निमित्त जिसके बहुत रोम विद्यमान ऐसे गांठियों के पास के भाग से युक्त त्वष्टा देवता वाले पशु वा पूछ के निमित्त सुफ़ेद रंग वाला वायु जिसका देवता है वह वा जो कामोद्दीपन समय के बिना बैल के समीप जाने से गर्व नष्ट करने वाली गौ वा विष्णु देवता वाला और नाटा शरीर से कुछ टेढ़े अंग वाला पशु इन सभों को जिसके सुन्दर २ कर्म उस ऐश्वर्य्ययुक्त पुरुष के लिये संयुक्त करो अर्थात् उक्त प्रत्येक अंग के आनन्द निमित्तक उक्त गुण वाले पशुओं को नियत करो।

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुण-बभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्त-शितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतः शितिबाहुः समन्तशि-तिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रा-वरुण्यः ।

—यजु० अध्याय २४ मन्त्र २

देवना वाले अर्थात् सूर्य चन्द्रमा के समान दिव्य गुण वाले जो सुपेद रंगयुक्त जिसकी सुपेद आंखें और जो लाल रंग वाला है वे पशुओं की रक्षा करने और दुष्टों को रुलाने हारे के लिये, जो ऐसे हैं कि जिनसे काम करते हे वे वायु देवना वाले जिनके उन्नतियुक्त अङ्ग अर्थात् स्थूल शरीर हैं वे प्राण वायु आदि देवता वाले तथा जिनका आकाश के समान नीला रूप है ऐसे जो पशु हैं वे सब मेघ देवना वाले जानने चाहियें।

पृश्निस्तिरश्चीन पृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्तऐन्द्राग्ना कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः।

—यजु० अध्याय २४ मन्त्र ४

हे मनुष्यो जो पूछने योग्य जिसका तिरछा स्पर्श और जिसका ऊँचा उत्तम स्पर्श है वे वायु देवता वाले। जो फलों को प्राप्त हों जिसकी लाल ऊर्णा अर्थात् देह के बाल और जिसकी चञ्चल चपल आँखें ऐसे जो पशु हैं वे सरस्वती देवना वाले जिसके कान में प्लीहा रोग के आकार चिह्न हों जिसके सूखे कान और जिसके अच्छी प्रकार सुवर्ण के समान कान ऐसे जो पशु हैं वे सब त्वष्टा देवता वाले जो काले गले वाले जिसके पाँजर की ओर सुपेद अङ्ग और जिसकी प्रसिद्ध जङ्घा अर्थात् स्थूल होने से अलग विदित हों ऐसे जो पशु हैं वे सब पवन और बिजुली देवता वाले तथा जिसकी बड़ी

बाल ऐसे जो पशु हैं वे सब उषा देवता वाले होते हैं यह जानना चाहिये ।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाता अदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ।

—यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र ५

हे मनुष्यो तुमको जो सुन्दर रूपवान और शिल्प कार्यों की सिद्धि करने वाली विश्वेदेव देवता वाले वाणी के लिये नीचे से ऊपर को चढ़ने योग्य जो तीन प्रकार की भेड़ें पृथिवी के लिये विशेष कर न जानी हुई भेड़ आदि धारण करने के लिये एक से रूप वाली तथा दिव्यगुण वाले विद्वानों की स्त्रियों के लिये अतीव छोटी २ थोड़ी अवस्था वाली बछियाँ जाननी चाहियें ।

कृष्णग्रीवा आग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनां रोहिता रुद्राणां श्वेता अवरोकिण आदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः ।

शितिपृष्ठस्त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिना कल्माषा आग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः। —यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र ७

हे मनुष्यो तुम को जो ऊँचा और श्रेष्ठ टेढ़े अङ्गों वाले नाटा पशु हैं वे बिजुली और पवन देवता वाले जो ऊँचा जिसका दूसरे पदार्थ को काटती छांटती हुई भुजाओं के समान बल और जिसकी सूक्ष्म की हुई पीठ ऐसे जो पशु हैं वे वायु और सूर्य देवता वाले जिनका सुग्गों के समान रूप और वेग वाले कबरे भी है वे अग्नि और पवन देवता वाले तथा जो काले रंग के हैं वे पुष्टि निमित्तक मेघ देवता वाले जानने चाहियें।

वसन्ताय कपिंजलानालभते ग्रीष्माय कलविंकान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान्। —यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र २०

हे मनुष्यो ! पक्षियों को जानने वाला जन वसन्तऋतु के लिये जिन कपिञ्जल नाम के विशेष पक्षियों ग्रीष्मऋतु के लिये चिरौटा नाम के पक्षियों वर्षाऋतु के लिये तीतरों, शरद के लिये वतकों, हेमन्त के लिये ककर नाम के पक्षियों और शिशिरऋतु के अर्थ विककर नाम के पक्षियों को अच्छे प्रभाकार प्राप्त होता है उनको तुम जानो।

सोमाय हंसानालभते वायवे बलाका इन्द्राग्निभ्यां क्रुंचान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान्।

—यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र २२

हे मनुष्यो ! जैसे पक्षियों के गुण का विशेषज्ञान रखने वाला पुरुष चन्द्रमा व ओषधियों में उत्तम सोम के लिये वगुलियों इन्द्र और अग्नि के लिये सारसों मित्र के लिये जल के कौओं वा सुनरमुर्गों और वरुण के वास्ते चकई चकवों को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है वैसे तुम भी प्राप्त होओ।

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्य उलूकानग्नीषोमाभ्यां चाषान् अश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्।

—यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र २३

हे मनुष्यो ! जैसे पक्षियों के गुण जानने वाला जन अग्नि के लिये मुर्गों वनस्पति अर्थात् विना पुष्प फल देने वाले वृक्षों के लिये उलू पक्षियों अग्नि और सोम के लिये नीलकण्ठ पक्षियों, सूर्य चन्द्रमा के लिये मयूरों तथा मित्र और वरुण के लिये कबूतरों को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है वैसे इनको तुम भी प्राप्त होओ।

श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान् वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः।

—यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र ३९

हे मनुष्यो ! तुम को जो चित्र विचित्र रंग वाला पशु विशेष वह समय के अवयवों के अर्थ जो ऊँठ तेजस्वि विशेष पशु और कण्ठ में जिसके थन ऐसा बड़ा बुकरा है वे सब बुद्धि के लिये जो नील गाय वह वन के लिये मृग विशेष है वह रुद्र देवता

वाला, जो कयिनाम का पक्षी मुर्गा और कौआ हैं वे घोड़ों के अर्थ और जो कोयल है वह काम के लिये अच्छे प्रकार जानने चाहियें।

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः।

—यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र ४०

हे मनुष्यो! तुम जो ऊँचे और पैने सींगों वाला गैंडा है वह सब विद्वानों का, जो काले रङ्ग वाला कुत्ता बड़े कानों वाला, गदहा और व्याघ्र हैं वे सब राक्षस दुष्ट हिंसक हबशियों के अर्थ, जो सुअर है वह शत्रुओं को विदारने वाले राजा के लिये, जो सिंह है वह मारुत देवता वाला, जो गिरगिटान पिप्पका नामकी पक्षिणी और पक्षिमात्र हैं वे सब जो शरविद्यों में कुशल उत्तम हैं उनके लिये और जो पृषतः पृषज्जाति के हरिण हैं वे सब विद्वानों के अर्थ जानना चाहियें।

शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बर्स्वैस्ते गान् दंष्ट्राभ्यां सरस्वत्या अग्रजिह्वं जिह्वाया उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजं हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्यां श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्यां शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्य्याणि पक्ष्माण्यवार्य्या इक्षवोऽवार्य्याणि पक्ष्माणि पार्य्या इक्षवः।

—यजुर्वेद अ०२५ मन्त्र १

हे अच्छे ज्ञानकी चाहना करते हुए विद्यार्थी जन तेरे ांतों से जिसमें छेदन करता है उस व्यवहार को दांतों की जड़ों ौर दांतों की पछाडियों से रक्षा करने वाली मट्टी को डाढ़ों ा विशेष ज्ञानवाली वाणी के लिये वाणी को जीभ से जीभ के अगले भाग को विकलतारहित व्यवहार से जिसमें ऊपर को स्थिर होती है उस तालु को ठांडी के पासके भागों से अन्न को जिससे भोजन आदि पदार्थ को गीला करते उस मुखसे जलों को वीर्य को अच्छे प्रकार धारण करनेहारे आंडों से वीर्य वर्षाने वाले अङ्गको मुख के चारों ओर केश अर्थात् डाढी उससे मुख्य विद्वानों को नेत्र गोलकों के ऊपर जो भोहें हे उनसे मार्ग को जाने आने से सूर्य और भूमि तथा तेज से भरे हुए काले नेत्रों के तारों के सदृश गोलों से विजुली को मैं समझाता हूँ। तुमको वीर्य के लिये ब्रह्मचर्य क्रिया से और विद्या खींचने के लिये सुन्दर शीलयुक्त क्रिया से पूरे करने योग्य जो सब ओर से लेने चाहियें उन कामों वा पलकों के ऊपर के विन्ने वा नदी आदि के प्रथम ओर होने वाले गन्नों के पोंडे वा नदी आदि के पहिले किनारे पर होने वाले पदार्थ सब ओर से जिनका ग्रहण करें वा लोम और पालना करने योग्य ऊख जो गुड आदि के निमित्त है वे पदार्थ अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें।

मशकान् केशैरिन्द्र स्वपसा वहेन बृहस्पतिं शकुनिसादेन कूर्माञ्छफैराक्रमणं स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलान् जवं जघा-

श्यामश्वानं, बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्यां पूषणं दोर्भ्यामश्विनावंसाभ्यां रुद्रं रोराभ्याम् ।

—यजुर्वेद अ० २५ मन्त्र ३

हे मनुष्यो सिरके बालों से ऐश्वर्य को जिससे पक्षियों को स्थिर कराता उस व्यवहार से कछुओं और मशों को उत्तमकाम और प्राप्ति कराने से बड़ी वाणी के स्वामी विद्वान को स्थूल चाल और ग्रहण करने आदि क्रियाओं से कपिञ्जल नामक पक्षियों को जङ्घाओं से मार्ग और वेगको भुजाओं के मूल अर्थात् बगलों भुजाओं और खुरों से चाल को जमुनि आदि के फल से वन और अग्नि का अतीव रुचि प्रीति और इच्छा से पुष्टि को तथा भुजदण्डों से प्रजा और राजा को प्राप्त होओ और कहने सुनने से रुलाने हारों को प्राप्त होओ ।

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पंचमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुतां सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ।

—यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र ४

हे मनुष्यो तुमको अग्नि की सब ओर से ग्रहण करने योग्य व्यवहार की मूल पवन की निश्चित विषय का मूल सूर्य की तीन को पूरा करने वाली क्रिया चन्द्रमा की चारको पूरा करने वाली अन्तरिक्ष की पांचवी स्त्री के समान वर्तमान जो बिजुलीरूप अग्नि की लपट उसकी छठी पवनों की सातवी बड़ों

की पालना करने वालेमहत्तत्व की आठमी स्वामीजनों का सत्कार करने वाले की नवीं धारण करने हारे की दशमी ऐश्वर्य-वानकी ग्यारहवीं श्रेष्ठ पुरुष की बारहवीं और न्यायाधीश राजा की तेरहवीं क्रिया करनी चाहिये।

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पंचम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणां सप्तमी विष्णो-रष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्। —यजुर्वेद अ० २५ मन्त्र ५

हे मनुष्यो! तुम लोग जो पवन और अग्नि की सब ओर से ग्रहण करने योग्य व्यवहार की मूल पहिली वाणी के लिए निश्चित पक्ष का मूल दूसरी मित्र की तीसरी जलों की चौथी भूमि की पांचवीं गर्मी सर्दी को उत्पन्न करने वाले अग्नि तथा जल की छठो सर्पों की सातवीं व्यापक ईश्वर की आठवीं पुष्टि करने वाले की नवमी उत्तम दिपते हुए की दसमी जीव की ग्यारहवीं श्रेष्ठजन की बारहवीं और न्याय करने वाले की स्त्री के लिये तेरहवीं क्रिया है उन सब को तथा प्रकाश और भूमि के दक्षिण ओर को और सब विद्वानों के उत्तर ओर को जानो।

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्वि-ह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनं शेपेन प्रजां रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः।

—यजुर्वेद अ० २५ मंत्र ७

हे मनुष्यो ! तुम मांगने से पुष्टि करने वाले को स्थूल गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान अन्धेसाँपों को गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान विशेष कुटिल साँपों को आँतों से जलों को नाभि के नीचे के भाग से अण्डकोष को आंडों से घोड़ों को लिङ्ग और वीर्य से सन्तान को पित्त से भोजनों को पेट के अङ्गों को गुदेन्द्रिय से और शक्तियों से शिखावटों को निरन्तर लेओ।

विधृतिं नाभ्या घृतं रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षांसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा।

—यजुर्वेद अ० २५ मन्त्र ६

हे मनुष्यो ! तुम लोग नाभि से विशेष करके धारणा को घी को रस से जलों को क्वाथ किये रस से किरणों को विशेषतर पूरण पदार्थों से कुहर को गर्मी से जमे हुए घी को निवास हेतु जीवन से जिनसे सींचते हैं उन क्रियाओं को आँसुओं से शब्दों की अप्रकट उच्चारण क्रियाओं को विकार रूप क्रियाओं से चित्र विचित्र पालना करने योग्य रुधिरादि पदार्थों को अङ्गों और रूपसे तारागणों को मांस रुधिर आदि को ढापने वाली खाल आदि से पृथिवी को जानकर अतिवेगवान के लिये सत्यवाणी का प्रयोग अर्थात् उच्चारण करो।

प्रिय पाठकगण !

वाक्य में अभिधेय के सद्भाव के लिए ठीक २ उद्देश (Subject) और विधेय (Predicate) की आवश्यकता है। यदि दोनों का स्थान उचित और अर्थानुकूल न होगा तो अर्थ का भी अस्तित्व न रहेगा। उचित से तात्पर्य योग्य स्थान से है याने व्याकरण-नियमों के अनुसार जहां उद्देश चाहिये वहां उद्देश होना चाहिये और जहां विधेय वहां विधेय तथा अर्थानुकूलसे तात्पर्य ऐसे विधेय से है जिस

गुण कि उद्देश में पाये जायें। उपर्युक्त वेद मन्त्रों में जिनको हमने अभिधेय का अभाव प्रमाणित करने के लिए इस प्रकरण में लिखा है न उद्देश और विधेय को उचित स्थान पर ही रक्खा गया है और न उनके विधेय ही इस प्रकार के हैं जिनके वाच्य गुण कि उद्देश में पाये जायें। पहिले मन्त्र को ही ले लीजियेगा इसमें बतलाया गया है कि शीघ्र चलनेहारा घोडा, हिंसा करनेवाला पशु, नीलगाय, सूर्य देवता वाली, अग्निदेवता वाला काली गर्दन का पशु, सरस्वती देवता वाली मेढी, सूर्य वा यम सम्बन्धी पशु, अश्विदेवता के पशु, सुफेद जिनका रक्त ऐसे वायुदेवता वाला पशु आदि को मनुष्या तुम ऐश्वर्ययुक्त पुरुष के लिए संयुक्त करो, इस मन्त्रमें आये विशेष्यों के लिए जिन जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे सब उनमें लागू नहीं होते। जिस प्रकार यदि कोई कहे कि प्रतिभाशाली लकड़ी तो उसका कथन ठीक नहीं, क्योंकि जब बुद्धि ही लकडी में नहीं रहती तब प्रतिभा किस प्रकार रह सकती है, उसही प्रकार इन विशेषणों के अर्थ भी इन विशेष्यों में लागू नहीं होते। आर्य-समाजी देवों का अस्तित्व ही नहीं मानते तब यह कहना कि उस देवता का वह पशु और उसका वह, आकाश के फूल की खुशबू की तरह वर्णन करना नहीं तो क्या है? यदि देवताओं के अस्तित्व का भी मानें तब भी विशेषणों का अर्थ विशेष्यों में नहीं लगता, क्योंकि देवताओंका पशुओंसे कोई सम्बन्ध नहीं। अतः इस प्रकार के कथन अर्थरहित कथन है। यही बात दूसरे तीसरे और चौथे मन्त्रों के मुतल्लिक है, क्योंकि उसमें भी सिर्फ पशुओं का देवताओं से सम्बन्ध बतलाया है। जैसा कि उन मन्त्रों के पढ़ने से पाठकों को स्पष्ट होगया होगा।

इस प्रकरण में उद्धृत पाँचवें मन्त्र में बतलाया है "विश्वेदेवदेवता वाल वाणी के लिए नीचे से ऊपर को चढ़ने

योग्य जो तीन प्रकार की भेड़ें" आदि, भला विचारियेगा कि कौन तो विश्वेदेव देवता और कौन उसकी भेड़ें आदि अतः यह भी कथन व्यर्थ कथन है। यही अवस्था अगाड़ी के मन्त्रों की है। अगाडी चलकर यजुर्वेद अ० २४ मन्त्र ३९ में लिखा है कि "हे मनुष्यो! तुमको जो चित्र विचित्र रंगवाला पशु विशेष वह संयम के अवयवों के अर्थ जो ऊँठ तेजस्वि विशेष पशु और कंठ में जिसके थन ऐसा बडा बकरा है वे सब बुद्धि के लिये जो नीलगाय वह बनके लिये मृगविशेष है वह रुद्रदेवता वाला, जो कपिनाम का पक्षी मुर्गा और कौआ है वे घोड़ों के अर्थ और जो कोयल है वह काम के लिये अच्छे प्रकार जानने चाहियें" भला विचारिये तो सही कि संयम के अवयवों से चित्र विचित्र रङ्ग के पशु का क्या सम्बन्ध? क्या जानवर से या खास बकरे से बुद्धि को लाभ होता है? ये सब कथन इसही प्रकार के हैं जिस प्रकार कि जल से स्वर्ण की उत्पत्ति बतलाना इसही प्रकार मुर्गा और कौआ का घोड़े के अर्थ वर्णन आदि कथन भी अर्थरहित कथन हैं।

यही अवस्था इस प्रकरण में लिखे अगाड़ी के मन्त्रोंकी है। अधिक क्या यदि वेद के अनर्थ कथन को लिखा जाय तो एक बड़ा भारी पोथा होजायगा। पुस्तक के बढ़जाने के डर से ही हमने यहां कुछ मन्त्रों को लिखा। अगाड़ी के तथा पहिले कुछ मन्त्रों के अनर्थवर्णन के मुतल्लिक जिनके सम्बन्ध में हम ने यहां प्रकाश नहीं डाला अपने पाठकों से इतना निवेदन कर देना मुनासिब समझते हैं वे इन मन्त्रों को ध्यान से पढ़ें। मंत्र स्वयं अपने अनर्थकथन को स्पष्ट कर देंगे। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वेदों में अनेक स्थानों में अनर्थक कथन मिलते हैं। जब कि वेदों में अनर्थक कथन मिलते हैं याने वेदों में अभिधेय का अभाव है तो यह भी स्पष्ट है कि वेदों में सम्बन्ध और इष्ट

प्रयोजन का भी अभाव है, क्योंकि अभिधेय का सद्भाव व्यापक है और सम्बन्ध और प्रयोजन के सद्भाव व्याप्य है, व्यापक के अभाव में व्याप्य नहीं रहता यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, यह बात कि इनमें व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है इस बात का समर्थन हम पूर्व ही याने इस प्रकरण के आदि में ही कर आये है। अतः स्पष्ट है कि वेद में सम्बन्ध, अभिधेय और इष्ट प्रयोजन का अभाव है और जब वेद में इन तीन बातों का अभाव है तो वेद इस दृष्टि से भी ईश्वररचित नहीं।

अब तक लिखे गये प्रकरणों से स्पष्ट है कि वेदों में असंभव, परस्परविरुद्ध, अश्लील, हिंसाविधान, मांसभक्षण समर्थन आदि अनेक प्रकार के कथन मिलते है और जब इस प्रकार के कथन वेदों में मिलते हैं तो यह बात कि वेदों में 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध, पवित्रात्मा के व्यवहार के विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त बातों का वर्णन है स्वयसिद्ध है, क्योंकि असम्भव कथन को प्रत्यक्षादि प्रमाणविरुद्ध कथन में, अश्लील समर्थन और हिंसाविधानादि पवित्रात्मा के व्यवहार के विरुद्ध कथन में और परस्पर विरुद्धकथन भ्रान्तियुक्त वर्णन में सम्मिलित है या दूसरे शब्दों में यों कहियेगा कि इनही बातों को उन शब्दोंद्वारा कहा जाता है। जब कि ईश्वरीय पुस्तक के लक्षण वेदों में नहीं मिलते तो लक्ष्याभावे लक्षणस्याप्यभावः अर्थात् लक्षण के अभाव में लक्ष्य का भी अभाव होजाता है वाली सर्वमान्य कहावत के अनुसार वेदों को ईश्वरकृत भी नहीं माना जासकता अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज के कथन को याने वेदभाष्यादिक को प्रमाणकोटि में रखते हुए भी वेद ईश्वरकृत प्रमाणित नहीं हो सकते।

"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला" की

उपयोगी पुस्तकें

(१) जैनधर्म परिचय—सत्यार्थदर्पण और जैनदर्शन आदि के लेखक, जैनगज़ट के भूतपूर्व सम्पादक पं० अजितकुमार जी शास्त्री इसके लेखक हैं। पृष्ठ संख्या करीब पचास के है। लेखक ने जैनधर्म के चारों अनुयोगों को इसमें संक्षेप में बतलाया है। जैनधर्म के साधारण ज्ञान के लिये यह बहुत उपयोगी है। मूल्य केवल ‒)॥

(२) जैनमत नास्तिक मत नहीं है—यह मि० हर्बर्ट वारन के एक अङ्गरेज़ी लेख का अनुवाद है। इसमें जैनधर्म को नास्तिक बतलाने वालों के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर लेखक ने बड़ी योग्यता से दिया है। मूल्य केवल)॥

(३) क्या आर्यसमाजी वेदानुयायी हैं?—इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ हैं। इसमें लेखक ने आर्यसमाजियों के अनादि पदार्थों के सिद्धान्त, मुक्तिसिद्धान्त, ईश्वर का निमित्तकारण और सृष्टिक्रम व ईश्वरस्वरूप को बड़ी स्पष्टरीति से वेद-विरुद्ध प्रमाणित किया है। पृष्ठ संख्या ४४। कागज़ बढ़िया। मूल्य केवल ‒)

(४) वेदमीमांसा—यह पं० पुत्तूलाल जी कृत प्र[illegible] पुस्तक है। पुस्तकमालाने इसको प्रचारार्थ पुनः प्रकाशित किया है। मूल्य छः आने से कम करके केवल =) रक्खा है।